२५.	सप्त चतुष्टय	...	रु. ४.००
२६.	भवानी भारती (श्रीअरविंदकी संस्कृत कविता, हिंदी रूपांतर सहित)	...	रु. २.५०
२७.	शिक्षाके आधार	...	रु. ५.००
२८.	शिक्षाके आयाम	...	रु. ६.००
२९.	१५ अगस्त—श्रीअरविन्दके जन्मदिनके बारेमें उनके अपने कुछ वक्तव्य		यन्त्रस्थ
३०.	आश्रममें कार्य		यन्त्रस्थ

कहानियां जो कुछ और भी कहती हैं

३१.	प्रेमकी विजय	...	रु. ३.००
३२.	नया अभियान	...	रु. ३.००
३३.	गुलदस्ता	...	रु. ३.००
३४.	नया तराना	...	रु. ३.००
३५.	कालके गर्भमें	...	रु. ३.००
३६.	नवजन्म	...	रु. ३.००

श्रीमातृवाणी—श्रीमाताजीके ग्रंथोंका १५ खंडोंमें संग्रह मूल्य रु. ५००.००

मासिक

पुरोधा	रु. १४.००	वार्षिक
अग्निशिखा	रु. १०.००	वार्षिक
दोनों मिलाकर	रु. २२.००	वार्षिक

Library IIAS, Shimla
H 294.562 9 Au 68 SH
00099624

संपर्क सूत्र :— संपादक अग्निशिखा एवं पुरोधा
श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी–६०५००२

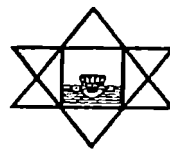

शिक्षाके आयाम

(श्रीअरविंदके लेखोंसे संकलित)

H
294.562 9 Au 68
SH

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिचेरी

विषय-सूची

राष्ट्रीय शिक्षण-पद्धति :

मानव मन	१
मनकी शक्तियां	५
नैतिक स्वभाव	८
समकालिक या आनुक्रमिक शिक्षण	१३
इन्द्रियोंका प्रशिक्षण	१७
अभ्याससे इन्द्रियोंका विकास	२२
मानसिक क्षमताओंका प्रशिक्षण	२४
तर्क-क्षमताका प्रशिक्षण	२९

राष्ट्रीय शिक्षणकी भूमिका :

पहला अध्याय	३१
दूसरा अध्याय	३९
बौद्धिक शिक्षा	४४

भारतीय मस्तिष्क :

अध्याय १	५०
अध्याय २	५४
अध्याय ३	५८
अध्याय ४	६३
शिक्षाके बारेमें	६७

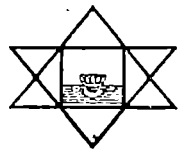

शिक्षाके आयाम

(श्रीअरविंदके लेखोंसे संकलित)

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिचेरी

CATALOGUED

Library IIAS, Shimla
H 294.562 9 Au 68 SH
00099624

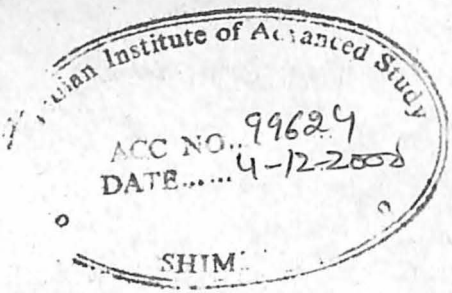

H
294.562 9
Au 68 SH

मूल्य रु. ६.००

प्रथम संस्करण : जून १९८६

© श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट १९८६

प्रकाशक : श्रीअरविंद सोसायटी पांडिचेरी–६०५००२
मुद्रक : श्रीअरविंद आश्रम प्रेस पांडिचेरी–६०५००२ (भारत)

राष्ट्रीय शिक्षण-पद्धति

(श्रीअरविंदने १९१०में 'कर्मयोगिन्' नामक पत्रमें यह लेख-माला लिखी थी। इसी तरह १९२०में 'आर्य'में 'राष्ट्रीय शिक्षणकी भूमिका' शीर्षकसे दो लेख लिखे थे। इन्हें दोहरानेका या पूरा करनेका कभी अवसर नहीं आया। कहा जा सकता है कि ये लेख भूमिका मात्र हैं। इनसे भारतकी राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति निश्चित करनेमें कुछ सहायता मिल सकती है। कई विषयोंमें श्रीअरविंदके विचार बदले भी थे।—सं०)

अध्याय १

मानव मन

शिक्षाका सच्चा आधार है मानव मनका, बालक, कुमार और वयस्क मनका अध्ययन। पंडिताऊ पूर्णतापर आधारित शिक्षा-पद्धति जो शिक्षाके यंत्रकी उपेक्षा करती है वह पूर्ण रूपसे साधन-संपन्न मन तैयार करनेकी जगह बौद्धिक विकासमें संभवतः बाधा डालेगी और रोड़े अटकायेगी। शिक्षकको कलाकार या मूर्तिकारकी तरह निर्जीव द्रव्यसे नहीं, अत्यधिक सूक्ष्म और संवेदनशील जीवसे काम पड़ता है। वह मानव काष्ठ या पत्थरमेंसे उत्कृष्ट शैक्षिक कलाकृति नहीं गढ़ सकता। उसे मनके मुश्किलसे पकड़में आनेवाले पदार्थको लेकर काम करना पड़ता है और भंगुर शरीरके द्वारा बनायी गयी सीमाओंका ख्याल रखना पड़ता है।

इसमें कोई शक नहीं कि प्राचीन पद्धतियोंकी अपेक्षा आजकी यूरोपीय शिक्षा-पद्धति बहुत आगे बढ़ी हुई है, लेकिन उसकी त्रुटियां

भी साफ दिखायी देती हैं। वह मानव मनोविज्ञानके अपर्याप्त ज्ञान-पर आधारित है। संकटपूर्ण परिणामोंसे यूरोपकी सुरक्षा बस इसी बातमें है कि वहांका सामान्य विद्यार्थी प्रचलित पद्धतिके आधीन नहीं चलता, वह बस उतना ही पढ़ता है जितना दंडसे बचनेके लिये या तात्कालिक परीक्षा पास करनेके लिये जरूरी है। वह शारीरिक व्यायाम और सक्रिय आदतोंमें लगा रहता है। भारतमें इस पद्धति-के संकटपूर्ण प्रभाव शरीर, मन और चरित्रपर बहुत स्पष्ट दिखायी देते हैं। राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धतिमें पहली समस्या है एक ऐसी शिक्षा देना जो यूरोपीय शिक्षाके जितनी ही व्यापक तो हो, पर साथ ही अधिक पूर्ण भी हो, उसमें तनाव या रटनेके दोष न हों। यह केवल ज्ञानके उपकरणोंका अध्ययन करने और पढ़ानेकी ऐसी पद्धति खोज निकालनेसे हो सकता है जो स्वाभाविक, सरल और प्रभावकारी हो। इन उपकरणोंको उनकी क्षमताके अनुसार अधिक-से-अधिक मजबूत और तेज बनाकर ही उन्हें आधुनिक परिस्थितियोंके बढ़े हुए कार्य-भारके लिये उपयोगी बनाया जा सकता है। मनकी मांसपेशियोंको सरल और सहज उपायोंसे प्रशिक्षित करके ही, उसके बिना नहीं, उनसे बौद्धिक बलके बड़े-बड़े कामोंकी आशा की जा सकती है।

सच्चे शिक्षणका पहला सिद्धांत है कि कुछ भी सिखाया नहीं जा सकता। कोई प्रशिक्षक या काम लेनेवाला दफादार नहीं है। उसका काम सुझाव देना है, थोपना नहीं। वह सचमुच विद्यार्थीके मानस-को प्रशिक्षित नहीं करता। वह उसे केवल यह बताता है कि अपने ज्ञानके उपकरणोंको कैसे पूर्ण बनाया जाय और वह उसे इस कार्यमें सहायता देता और प्रोत्साहित करता है। वह उसे ज्ञान नहीं देता, वह उसे यह बतलाता है कि अपने लिये ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय। वह अंदर स्थित ज्ञानको प्रकट नहीं करता; वह केवल यह दिखलाता है कि वह कहां पड़ा है और उसे ऊपरी तलपर आनेका अभ्यास किस तरह कराया जा सकता है। जो प्रभेद इस सिद्धांतको केवल वयस्क और किशोर मनकी शिक्षाके लिये आरक्षित रखता है और

वालकके लिये उसे लागू करनेसे इंकार करता है वह एक पुराणपंथी और नासमझ सिद्धांत है। वालक हो या पुरुष, लड़का हो या लड़की, शिक्षा देनेका एक ही अच्छा सिद्धांत है। अवस्था-भेद आवश्यक सहायता और पथ-प्रदर्शनकी मात्राको घटा-बढ़ा सकता है। इससे चीजकी प्रकृति नहीं वदलती।

दूसरा सिद्धांत यह है कि मनके विकासमें स्वयं उसकी सलाह ली जाय। बच्चेको हथौड़ी मार-मारकर माता-पिता या अध्यापकके चाहे हुए रूपमें गढ़ना एक अज्ञानपूर्ण और बर्बर अंध-विश्वास है। विद्यार्थीको यह प्रेरणा देनी चाहिये कि वह अपनी प्रकृतिके अनुसार अपना विस्तार करे। मां-बापके लिये इससे बड़ी भूल नहीं हो सकती कि वे पहलेसे ही ठीक कर लें कि उनका बेटा अमुक गुण, अमुक क्षमताएं, विचार या विशेषताएं विकसित करेगा या उसे पहलेसे ही निश्चित अमुक प्रकारकी जीविकाके लिये तैयार किया जाय। प्रकृतिको इस वातके लिये बाधित करना कि वह स्वधर्म छोड़ दे, उसे स्थायी क्षति पहुंचाना, उसके विकासको विकृत करना और उसकी पूर्णताको विरूप कर देना है। यह मानव आत्मापर स्वार्थपूर्ण अत्याचार है, राष्ट्रपर एक आघात है जिसके कारण वह मनुष्यके सर्वोत्तम कार्यके लाभसे वंचित हो जाता है और उसके बदले अपूर्ण, कृत्रिम, घटिया, औपचारिक और सामान्य चीज स्वीकार करनेके लिये वाधित होता है। हर एकमें कुछ दिव्य अंश होता है, कुछ ऐसा जो उसका अपना होता है। भगवान् स्वीकार करने या त्याग देनेके लिये एक क्षेत्र देते हैं, वह चाहे कितना भी छोटा क्यों न हो, जिसमें वह पूर्णता और शक्ति पा सकता है। मुख्य काम है खोजना, विकसित करना और उसका उपयोग करना। शिक्षाका मुख्य उद्देश्य होना चाहिये अंतरात्माकी इस बातमें सहायता करना कि वह अपने अंतरकी अच्छी-से-अच्छी चीजको बाहर लाये और किसी उदात्त उपयोगके लिये पूर्ण बनाये।

शिक्षाका तीसरा सिद्धांत है निकटसे दूरकी ओर काम करते चलना,

जो है उससे जो होगा उसकी ओर जाना। प्रायः हमेशा ही मनुष्य-के स्वभावका आधार उसकी आत्माके अतीतके अतिरिक्त बहुत-सी चीजोंपर निर्भर होता है, जैसे : उसकी आनुवंशिकता, उसका पास-पड़ोस, उसकी राष्ट्रीयता, उसका देश, वह धरती जहांसे वह आहार पाता है, वह हवा जिसमें वह सांस लेता है, वे दृश्य, वे आवाजें और वे आदतें जिनके लिये वह अभ्यस्त है। ये चीजें उसके जाने बिना, लेकिन इस कारण कम बलके साथ नहीं, उसको ढालती हैं। और हमें वहींसे शुरू करना चाहिये। हमें स्वभावको उस जमीनमें-से जड़ोंसे नहीं उखाड़ देना चाहिये जहां उसे पनपना है। मनको ऐसे विचों और ऐसे जीवनके विचारोंसे नही घेर देना चाहिये जो उस जीवनके विरोधी हों जिनमें उसे हिलना-डुलना है। अगर बाहर-से कोई चीज लानी है तो मनपर जोरसे आरोपित न की जाय, उसे भेंट की जा सकती है। सच्चे विकासके लिये एक जरूरी शर्त है : स्वाभाविक और मुक्त बुद्धि। ऐसी आत्माएं होती हैं जो अपने परिवेशके विरुद्ध विद्रोह करती हैं और ऐसा लगता है कि वे किसी और ही युग, किसी और ही देशकी हैं। उन्हें अपनी पसंदका अनुसरण करने दो। लेकिन कृत्रिम रूपोंमें ढाले जानेपर अधिकतर लोग क्षीण, रिक्त और बनावटी बन जाते हैं। भगवान्‌की व्यवस्था है कि अमुक लोग किसी राष्ट्र-विशेष, देश, युग, समाजके हों। वे अतीतके बालक, वर्तमानके भोक्ता और भविष्यके निर्माता हों। अतीत हमारी नींव है, वर्तमान हमारा उपादान है, भविष्य हमारा लक्ष्य और शिखर है। राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धतिमें हर एकको अपना उचित और स्वाभाविक स्थान मिलना चाहिये।

अध्याय २

मनकी शक्तियां

शिक्षकका उपकरण है मन या अंतःकरण जिसके चार स्तर होते हैं। पिछले मानसिक संस्कारोंका भंडार या स्मृतियोंका कोठार—चित्त। इसे स्मरणकी क्रिया-विशेषसे अलग देखना चाहिये। यही नींव है। और सभी स्तर इसीपर आधारित हैं। सभी अनुभूतियां हमारे अंदर निष्क्रिय या संभाव्य स्मृतिके रूपमें रहती हैं। सक्रिय स्मृति अपनी आवश्यकताके अनुसार उस भंडारमेंसे चुनती और लेती है। लेकिन सक्रिय स्मृति एक ऐसे आदमीकी तरह है जो तालेमें बंद बहुत बड़ी राशिमेंसे कुछ ढूंढ़ रहा है। कभी-कभी वह उस चीजको नहीं पाता जिसे वह खोज रहा है। बहुधा अपनी तेज खोजमें ऐसी बहुत-सी चीजोंके साथ ठोकर खाता है जिनकी उसे जरूरत नहीं है। और बहुधा वह भूल कर बैठता है और सोचता है कि उसे वास्तविक चीज मिल गयी है जब कि वह कोई और ही चीज होती है जिसपर उसका हाथ जा पड़ता है। वह एकदम बेकार नहीं, तो अप्रासंगिक तो होती ही है। निष्क्रिय स्मृति या चित्तको किसी प्रशिक्षणकी जरूरत नहीं होती। वह स्वतः-चालित और स्वाभाविक रूपसे अपने कामके लिये पर्याप्त होती है। उसके क्षेत्र-में आनेवाले ज्ञानके विषयका एक कण भी ऐसा नहीं होता जो उस अद्‌भुत आधारमें सुरक्षित रूपसे, बिना भूलके अपने स्थानपर न रखा जाय। सक्रिय स्मृतिको, जो उच्चतर परंतु कम विकसित क्षमता है, उन्नत करनेकी जरूरत है।

दूसरा स्तर है मानस—भारतीय मनोविज्ञानकी छठी ज्ञानेंद्रिय। मन या मानसका काम है वस्तुओंके बिंबको दृष्टि, श्रुति, घ्राण, स्वाद और स्पर्शके द्वारा प्राप्त करना और फिर उन्हें विचार-संवेदनोंमें

अनूदित करना। वह अपने सीधे विंब भी प्राप्त करता है और उन्हें मानसिक संस्कारोंका रूप देता है। ये संवेदन या संस्कार स्वयं विचार न होकर विचारकी सामग्री हैं। लेकिन यह बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है कि विचार पर्याप्त और पूर्ण सामग्री लेकर काम करे। इसलिये शिक्षकका पहला काम है कि बच्चेमें छहों इन्द्रियोंके ठीक उपयोगकी क्षमताको विकसित करे। उसे देखना चाहिये कि उपयोग न होनेके कारण वे अविकसित या घायल न रह जायं। अध्यापकके निर्देशनमें स्वयं बालक इन्हें प्रशिक्षित करे और उनकी क्षमताके अनुसार अधिक-से-अधिक संपूर्ण यथार्थता और सूक्ष्म संवेदनशीलताको प्राप्त कर सके। इसके अतिरिक्त कर्मेन्द्रियोंसे जितनी सहायता प्राप्त हो सकती है उसका पूरी तरह उपयोग किया जाय। उदाहरणके लिये, आंख जो कुछ देखती है और मन जो कुछ अनुभव करता है उसकी प्रतिकृति तैयार करनेकी शिक्षा हाथको दी जाय। वाणीको, अंतःकरणमें जो ज्ञान है उसे, पूर्ण अभिव्यक्ति दे सकनेके लिये प्रशिक्षित किया जाय।

तीसरा स्तर है बुद्धि जो विचारका वास्तविक उपकरण है और जो मशीनके अन्य भागोंद्वारा अर्जित ज्ञानको सुव्यवस्थित करती है। मैंने जो तीन नाम बताये हैं उनमें शिक्षककी दृष्टिसे यह सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। बुद्धि एक ऐसा अवयव है जिसमें बहुत प्रकारकी क्षमताओंके समूह होते हैं जिन्हें हम दो महत्त्वपूर्ण भागोंमें बांट सकते हैं: दाहिने हाथकी क्षमताएं और बाएं हाथकी क्षमताएं। दाहिने हाथकी क्षमताएं व्यापक, सर्जनात्मक और समन्वयात्मक होती हैं। बाएं हाथकी क्षमताएं आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक होती हैं। निर्णय, मूल्यांकन, कल्पना, स्मृति, अवलोकन दाहिने हाथकी चीजें हैं, तुलना और तर्क बाएं हाथकी। समालोचनात्मक क्षमताएं भेद करती, तुलना करती, श्रेणीबद्ध करती, व्यापक बनाती, परिणाम निकालती, अनुमान करती और निष्कर्ष निकालती हैं। ये तर्क-बुद्धिके युक्तियुक्त घटक हैं। दाहिने हाथकी क्षमताएं समझती, आज्ञा

देती और अपने अधिकारसे निर्णय करती, पूरी तरह समझती, बातको पकड़में लेती और परिचालित करती हैं। दाहिने हाथका मन ज्ञानका स्वामी होता है और बाएं हाथका मन उसका सेवक। बायां हाथ ज्ञानके शरीरको ही छूता है; दाहिना हाथ उसकी अंतरात्मामें प्रवेश कर जाता है। बायां हाथ अपने-आपको केवल निश्चित सत्योंतक सीमित रखता है; दाहिना हाथ उसे पकड़ सकता है जो अभीतक दुर्ग्राह्य या अनिश्चित है। मानव तर्क-बुद्धिकी पूर्णताके लिये दोनों जरूरी हैं। अगर बच्चेकी शिक्षाको अधूरा और एकतरफा नहीं रखना है तो यंत्रको इन सभी क्षमताओंकी, उनकी उच्चतम और विशुद्धतम क्षमतातक पहुंचाना होगा।

क्षमताका एक चौथा स्तर भी है जो मनुष्यके अंदर अभीतक पूरी तरह विकसित नहीं हुआ है लेकिन धीरे-धीरे ज्यादा विस्तृत और अधिक विकसित होता जा रहा है। ज्ञानके इस उच्चतम स्तरका परिचय हमें प्रतिभाशाली व्यक्तियोंमें मिलता है : चरम विवेक, सत्य-का अंतर्भासात्मक दर्शन, वाणीको प्राप्त पूर्ण अंत:प्रेरणा, ज्ञानका ऐसा प्रत्यक्ष दर्शन जो प्राय: अंत:प्रकाशतक पहुंच जाता है और मनुष्यको सत्यका द्रष्टा बना देता है। बहुतोंको ये शक्तियां अधूरे रूपमें या दीप्तियोंके रूपमें प्राप्त होती हैं। परंतु अपने उच्चतर विकासमें ये बहुत विरल हैं। मानव जातिकी तर्क-बुद्धि अभीतक इनपर बहुत अविश्वास करती है क्योंकि भ्रांति, स्वेच्छाचारिता, पक्षपातपूर्ण कल्पना इनकी संभव क्रियामें बाधा डालती और उसे विकृत करती हैं। लेकिन यह स्पष्ट है कि मानव जाति इन क्षमताओंकी सहायताके बिना अपनी वर्तमान स्थितितक प्रगति न कर पाती। लेकिन यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका सामना शिक्षा-शास्त्री अभीतक नहीं कर पाये हैं। विद्यार्थीमें प्रतिभाके सशक्त और चकरानेवाले तत्त्वके साथ क्या किया जाय? सामान्य प्रशिक्षक प्रतिभाको हतोत्साह करके उसका दम घोंटनेका पूरा प्रयास करता है। ज्यादा उदार शिक्षक उसका स्वागत करता है। मानवजातिके लिये इतनी अधिक महत्त्वपूर्ण

क्षमताओंको अपने विचार-क्षेत्रके बाहर नहीं छोड़ा जा सकता। उनकी उपेक्षा करना मूर्खता है। उनके अपूर्ण विकासको पूर्ण करना होगा, भ्रांति, सनक और पक्षपात-भरी कल्पनाको सावधानी और बुद्धिमत्ताके साथ अलग करना होगा। लेकिन अध्यापक यह काम नहीं कर सकता। अगर वह इसमें पड़े तो वह जंगली घासके साथ-ही-साथ अच्छे दानोंको भी (घुनोंके साथ गेहूंको भी) निकाल फेंकेगा। इस विषयमें और शिक्षा-संबंधी सभी कामोंमें वह केवल विकसनशील अंतरात्माको अपनी पूर्णताके पथपर रख सकता है।

अध्याय ३

नैतिक स्वभाव

मनुष्यकी मितव्ययतामें मानसिक स्वभाव नैतिकपर अवलंबित होता है और जो बौद्धिक शिक्षा नैतिक और भावात्मक प्रकृतिकी पूर्णतासे अलग रहती है वह मानव-प्रगतिके लिये हानिकर होती है। फिर भी, यद्यपि मनके प्रशिक्षणके लिये एक प्रकारका कार्यक्रम या पाठ्य-क्रम निर्धारित कर देना सरल है लेकिन आधुनिक परिस्थितियोंमें विद्यालयों और महाविद्यालयोंके लिये उचित नैतिक प्रशिक्षणकी व्यवस्था करना संभव नहीं हुआ है। नैतिक और धार्मिक पाठ्य-पुस्तकें पढ़ाकर बच्चोंको नैतिक और धार्मिक बनानेका प्रयास निस्सार भ्रांति है। मुख्य कारण यह है कि हृदय मन नहीं है और यह जरूरी नहीं है कि मनको प्रशिक्षित करनेसे हृदय बदल जाय लेकिन यह कहना गलत होगा कि इसका कोई असर नहीं। यह अंतःकरणमें कुछ विचारोंके बीज फैला देता है और अगर इन विचारोंका अभ्यास हो जाय तो आचरणपर उनका असर पड़ता है। लेकिन नैतिक पाठ्य पुस्तकोंसे यह बड़ा संकट है कि वह उच्चतर वस्तुओंके बारेमें

विचारोंको यांत्रिक और कृत्रिम बना देता है और जो कुछ यांत्रिक और कृत्रिम है वह शुभके लिये सक्रिय या व्यावहारिक नहीं होता।

मनुष्यकी नैतिक प्रकृतिके साथ व्यवहार करते हुए तीन चीजें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं, भाव, संस्कार या बनी हुई आदतें और संबंध और स्वभाव। अपने-आपको नैतिक दृष्टिसे प्रशिक्षित करनेका एक ही तरीका है, अपने-आपको समुचित भावों, उदात्ततम संबंधों, सर्वोत्तम मानसिक, भावनात्मक और भौतिक आदतोंके लिये अभ्यस्त करना और अपनी तत्त्वगत प्रकृतिके मौलिक आवेगोंका समुचित क्रियामें अनुसरण करना। तुम बच्चोंपर एक विशेष प्रकार-का नियंत्रण थोप सकते हो। उन्हें एक खास तरहकी वेश-भूषा पहना दो, वांछित पथपर उन्हें हांक दो, लेकिन जबतक तुम उनके हृदय और प्रकृतिको अपने साथ नहीं ले लेते तबतक इस आरोपित अनुशासनका अनुमोदन आडंबरपूर्ण, हृदयहीन, रूढ़िगत और प्रायः भीरुतापूर्ण पालन होता है। यूरोपमें यही किया जाता है और इसीके परिणामस्वरूप वह स्थिति आती है जिसे अंगरेजीमें जंगली जौ बोना कहते हैं, यानी, घरमें और विद्यालयमें गरदनसे जूआ उतरते ही सब तरहका जंगलीपन शुरू हो जाता है और इसीसे सामाजिक ढोंग आता है जो यूरोपीय जीवनका एक बहुत बड़ा अंश है। मनुष्य जिस चीजकी सराहना करता है और जिसे स्वीकार करता है वही उसका अपना अंश बन सकती है, बाकी सब छद्मवेश ही रहता है। वह जैसे घर और विद्यालयमें नैतिक रूढ़िका पालन करता है उसी तरह समाजके अनुशासनके अनुसार चलता है, लेकिन अपने आंतरिक और व्यक्तिगत जीवनमें, अपने वास्तविक जीवनमें अपने मनके मुताबिक, अपने आवेगोंके अनुसार चलनेके लिये अपने-आपको स्वच्छंद मानता है। दूसरी ओर नैतिक और धार्मिक शिक्षाकी पूरी-पूरी अवहेलना करनेसे मानवजाति भ्रष्ट हो जाती है। स्वदेशी आंदोलनके रक्षक स्पर्शसे पहलेका भारतीय युवकोंमें फैला कुख्यात भ्रष्टाचार अंगरेजी शिक्षा-प्रणालीके अनुसार शुद्ध रूपसे

मानसिक शिक्षा देनेका सीधा परिणाम था। सेंट्रल हिंदू कालेज जैसी संस्थाओंमें भारतीय वेश-भूषामें अंगरेजी पद्धति अपनानेका परिणाम हमें यूरोपीय परिणामकी ओर ही ले जायगा। उसके पक्षमें बस यही कहा जा सकता है कि वह कुछ नहीसे अच्छा है।

जैसा मनकी शिक्षाके लिये है उसी तरह हृदयकी शिक्षाके लिये भी सबसे अच्छा उपाय यही है कि बालकको उसकी पूर्णताके सीधे मार्गपर लगा दिया जाय और उसे उसपर चलनेके लिये प्रोत्साहित किया जाय। उसपर नजर रखी जाय, सुझाव दिये जायं, सहायता की जाय, पर उसमें हस्तक्षेप न किया जाय। अंगरेजोंकी छात्रावास प्रणालीमें एक बात बहुत अच्छी है: वहां अध्यक्ष, अपने अच्छे-से-अच्छे रूपमें, नैतिक पथ-प्रदर्शक और उदाहरणके रूपमें रहता है। वह विद्यार्थियोंको दिखाये गये मार्गपर चलनेके लिये चुपचाप चलने, एक-दूसरेकी मदद करने और एक-दूसरेपर प्रभाव डालनेके लिये छोड़ देता है। परंतु जो पद्धति अपनायी जाती है वह अनगढ़ और अतिशय बाहरी अनुशासनके कारण बिगड़ी हुई है। उसके लिये विद्यार्थियोंमें मान नहीं, भय होता है, आंतरिक सहायता भी स्वयं ही रहती है। इससे जो थोड़ा बहुत लाभ होता है उससे हानि कहीं अधिक होती है। नैतिक अनुशासनके लिये प्राचीन भारतीय पद्धति बहुत अधिक उत्कृष्ट थी जिसमें गुरु अपने ज्ञान और अपनी पवित्रताके कारण शिष्यसे निर्विवाद आज्ञापालन, पूर्ण सराहना, आदरपूर्ण अनुकरण पाता था। अब उस प्राचीन पद्धति-को फिरसे स्थापित करना असंभव है, लेकिन भाड़ेके प्रशिक्षक या हितकारी पुलिस—यूरोपीय पद्धतिने शिक्षकको यही तो बना दिया है—की जगह बुद्धिमान् मित्र, पथ-प्रदर्शक और सहायक रखना असंभव नहीं है।

नैतिक प्रशिक्षणका पहला नियम है सुझाव देना या निमंत्रण देना। सुझाव देनेका सबसे अच्छा तरीका है व्यक्तिगत उदाहरण, रोजकी बातचीत और रोजाना पढ़ी जानेवाली किताबें। छोटे बच्चोंके लिये

इन किताबोंमें भूतकालके महान् उदाहरण नैतिक सीखके रूपमें नहीं, मानव रसके उत्कृष्ट उदाहरणोंके रूपमें दिये जायं और बड़े विद्यार्थियों-के लिये महान् आत्माओंके महान् विचार, उच्चतम भावोंको जगाने-वाले, उच्चतम आदर्शों और अभीप्साओंको प्रेरित करनेवाले साहित्य-के अंश, इतिहास और जीवनीके ऐसे प्रसंग जो इन महान् विचारों, उदात्त भावों और अभीप्सा-भरे आदर्शोंको जीवनमें उतारनेके उदा-हरण हों। यह ऐसा सत्संग है जो प्रभाव डाले विना नहीं रह सकता वशर्ते कि आडंबरपूर्ण उपदेशोंसे वचा जाय। यह वहुत ज्यादा प्रभावशाली हो सकता है यदि स्वयं अध्यापकका जीवन उन महान् आदर्शोंमें ढला हो जिन्हें वह विद्यार्थीके सामने रख रहा है। फिर भी इसमें पूरी शक्ति तवतक नहीं आ सकती जवतक नव जीवनको अपने सीमित क्षेत्रमें, अपने अंदर उठनेवाले नैतिक आवेगोंको मूर्त्त रूप देनेका अवसर न मिले। आर्योंके विशेष गुण ये हैं: ब्राह्मणके लिये ज्ञान-पिपासा, आत्मोत्सर्ग, पवित्रता और त्याग; क्षत्रियके लिये साहस, उत्साह, स्वमान, उदात्तता, शौर्य; वैश्यके लिये उपकारिता, कौशल, उद्योग, उदारतापूर्ण उद्यम और मुक्तहस्त वृत्ति; और शूद्रके लिये निःस्वार्थ और प्रेमपूर्ण सेवा। ये गुण हैं जिन्हें हम अपने युवकोंमें और सारे राष्ट्रमें देखना चाहते हैं। लेकिन यदि हम वच्चोंको अपने-आपको आर्य परिपाटीके अनुसार प्रशिक्षित करनेका अवसर न दें, वचपन और किशोरावस्थाके अभ्यास और परिचयके द्वारा वह द्रव्य तैयार करने न दें जिससे उनका प्रौढ़ जीवन वनेगा तो यह कैसे संभव हो सकता है।

इसलिये हर एकको उसके स्वभावमें जो कुछ सर्वोत्तम है उसे विकसित करनेके लिये क्रियात्मक अवसर और वौद्धिक प्रोत्साहन मिलना चाहिये। अगर उसके अंदर मन या शरीरके दुर्गुण, वुरी आदतें, वुरे संस्कार हों तो उसके साथ अपराधी जैसा व्यवहार न किया जाय, वल्कि राज-योगके वताये गये संयम, त्याग और प्रस्था-पनाके द्वारा उनसे पिंड छुड़ानेके लिये प्रोत्साहित किया जाय। उसे

इस वातके लिये प्रोत्साहित किया जाय कि वह इन चीजोंको पाप या अपराधके रूपमें न लेकर एक साध्य रोगके लक्षणोंके रूपमें ले, यह जाने कि स्थिर और सतत संकल्पके प्रयाससे इन्हें वदला जा सकता है। जव कभी मनमें मिथ्यात्व सिर उठाये तो उसे अस्वीकार करके उसकी जगह सत्यको विठाया जाय, भयके स्थानपर साहस, स्वार्थकी जगह त्याग और आत्मोत्सर्ग, दुर्भावनाकी जगह प्रेम। इस वातकी विशेष सावधानी रखनी होगी कि कहीं अस्पष्ट और अविकसित गुणोंको दोष मानकर न त्याग दिया जाय। वहुत-से युवा स्वभावोंमें जंगलीपन और लापरवाही, वहुत अधिक वल, महानता और उदात्तताके उफान होते हैं। उन्हें दवानेकी जगह शुद्ध करना चाहिये।

मैंने नैतिकताकी वात की है। यहां धार्मिक शिक्षाके वारेमें भी एक-दो शव्द कह देना जरूरी है। एक अजीव-सी मान्यता प्रचलित है कि किसी धर्मके रूढ़ सिद्धांत पढ़ा देनेसे ही वच्चे धार्मिक और नैतिक वन सकते हैं। यह एक यूरोपीय भूल है और इसे मान लेनेसे या तो लोग यांत्रिक रूपसे किसी मतको स्वीकार कर लेते हैं जिसका उनके आंतरिक जीवनपर कोई असर नहीं होता और वाहरी जीवनपर भी न के वरावर ही होता है; या फिर इससे मतांध, भक्ति-वादी, कर्मकांडी, अनगढ़, पंडिताऊ ढोंगी पैदा होते हैं। धर्मको मतके रूपमें पढ़नेकी जगह जीवनमें उतारना चाहिये...। किसी धार्मिक शिक्षाका तवतक कोई मूल्य नहीं जवतक उसे जीवनमें न उतारा जाय और धार्मिक जीवनकी उपयोगी तैयारीके लिये विभिन्न प्रकारकी साधानाएं जरूरी हैं। प्रार्थना, श्रद्धांजलि आदिके समारोहोंके लिये वहुत-से मन तरसते हैं। यह उनके लिये आवश्यक तैयारी है। यह अपने-आपमें उद्देश्य नहीं, पर आध्यात्मिक प्रगतिमें वहुत सहायक अवश्य है। अगर इसे हटा दिया जाय तो ध्यान, भक्ति या धार्मिक कर्तव्यके किसी और रूपको इसके स्थानपर रखना होगा। अन्यथा धार्मिक शिक्षाका कोई उपयोग न रहेगा और उसे न देना ही ज्यादा अच्छा होगा।

लेकिन हर ऐसे विद्यालयमें जो अपने-आपको राष्ट्रीय कहता है, चाहे स्पष्ट रूपमें धार्मिक शिक्षा दी जाय या न दी जाय, धर्मके सारतत्त्व, भगवान्‌के लिये, मानव जातिके लिये, देशके लिये, औरोंके लिये और औरोंमें अपने लिये जीनेके आदर्शको जरूर अपनाना चाहिये। हमारे विद्यालयोंमें व्याप्त हिंदुत्वका भाव ही—भारतीय विषय या भारतीय साधनोंसे, या सीधा भारतीय विश्वासों और भारतीय ग्रंथोंकी पढ़ाईसे कहीं अधिक—राष्ट्रीयताका वह सारतत्त्व होना चाहिये जो हमारे विद्यालयोंको अन्य विद्यालयोंसे विशेष बनाये।

अध्याय ४

समकालिक या आनुक्रमिक शिक्षण

भारतमें आधुनिक शिक्षणकी एक विशेष चीज जो असंगतिकी हदतक पहुंच गयी है यह अभ्यास है कि हर चीज थोड़ी-थोड़ी करके, फुटकर रूपमें पढ़ायी जाय। एक विषय एक समयमें थोड़ा-थोड़ा करके अन्य बहुत सारे फुटकर विषयोंके साथ पढ़ाया जाता है और परिणाम यह है कि जो विषय एक वर्षमें अच्छी तरह सीखा जा सकता था बुरी तरहसे सात वर्षमें सीखा जाता है और बालक पूरी तरह तैयार हुए बिना ही निकल जाता है, उसके पास ज्ञानके अपूर्ण पैकेट तो होते हैं, पर वह मानव ज्ञानके किसी महा विभागका भली-भांति ज्ञाता नहीं बन पाता। नेशनल काउंसिल, जो उभयचर, दोहरे स्वभाववाली रचना है, ने जो शिक्षा-पद्धति अपनायी है उसने प्रारंभिक और माध्यमिक वर्गोंमें तो इस तरह फुटकर विषय पढ़ानेकी पद्धति-को ही बढ़ावा दिया है, परंतु ऊपर आकर वह अचानक आडंबरपूर्ण विशेषज्ञतामें बदल जाती है। यह तो ऐसा है जैसे किसी त्रिकोणको

उसके शिखर-विंदुपर खड़ा कर दिया जाय और यह आशा की जाय कि वह टिका रहेगा।

प्राचीन पद्धति यह थी कि एक या दो विषय खूब अच्छी तरह पढ़ाये जाते थे और उसके बाद दूसरे विषय लिये जाते थे। निश्चय ही यह आधुनिक पद्धतिकी अपेक्षा अधिक युक्तियुक्त तरीका था। वह इतनी विविध प्रकारकी सूचनाएं भले न देता हो, परंतु ज्यादा गहरी, उदात्त और वास्तविक संस्कृति अवश्य देता था। आधुनिक औसत मनका बहुत-सा छिछलापन, असंबद्ध छिछोरापन, चंचल अस्थिरताका कारण फुटकर पढ़ाईके सिद्धांतका ऋणी है। प्राचीन पद्धतिके विरुद्ध जो एक दोष आरोपित किया जा सकता है वह यह है कि पहले सीखा हुआ विषय दूसरा विषय सीखते समय विद्यार्थीके मनसे उतर सकता है। लेकिन प्राचीन लोग स्मरण-शक्तिको जो अच्छा अभ्यास करवा देते थे वह इस दोषसे रक्षा करता था। भावी शिक्षाके लिये हमारा प्राचीन या वर्तमान पद्धतिके साथ बंधना जरूरी नहीं है। हम ज्ञान-प्राप्तिके पूर्णतम और द्रुत साधन अपना सकते हैं।

आधुनिक पद्धतिके पक्षमें यह कहा जाता है कि बालकोंका ध्यान जल्दी ही थक जाता है और उनपर एक ही विषयपर लंबे समयतक एकाग्र होनेका भार नहीं डाला जा सकता। विषय बार-बार बदलने-से मनको आराम मिल जाता है। यहां स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि क्या आधुनिक बालक प्राचीन कालके बालकोंसे इतने भिन्न हैं? अगर ऐसे हैं भी तो क्या इसका कारण यह नहीं है कि हमने लंबे समयतक एकाग्र हो सकनेकी क्षमताको हतोत्साह करके उन्हें ऐसा बना दिया है? यह ठीक है कि बहुत छोटा बच्चा इस तरह मन लगानेके काबिल नहीं होता, लेकिन फिर बहुत छोटा बच्चा किसी प्रकारके विद्यालयके शिक्षणके योग्य भी नहीं होता। सात-आठ वर्षका बालक —यही वह कम-से-कम आयु है जब नियमित विद्याध्ययन शुरू किया जा सकता है,—यदि किसी विषयमें रस ले तो काफी एकाग्र हो

सकता है। आखिर रस ही तो एकाग्रताका आधार है। हम बच्चों-के पाठको बहुत अरुचिकर और घिनौना बना देते हैं। शिक्षणका आधार होता है कठोर दबाव और फिर हम बेचैनी और एकाग्रता-के अभावकी शिकायत करते हैं। वर्तमान अस्वाभाविक पद्धतिके स्थानपर स्वाभाविक आत्म-शिक्षण आ जाय तो अक्षमता-विषयक आपत्ति दूर हो जायगी। वयस्क मनुष्यकी तरह बालक भी अगर किसी विषयमें रस ले तो उसे अधूरा छोड़नेकी जगह अंततक जाना पसंद करेगा। पढ़ानेकी सच्ची कला है विद्यार्थीको एक-एक कदम करके, हर कदमपर रुचि और रस पैदा करते हुए आगे ले जाना, यहांतक कि वह अपने विषयपर पूरा प्रभुत्व पा ले।

अध्यापकको सबसे पहले माध्यम और उपकरणोंकी ओर ध्यान देना चाहिये। जबतक यह पक्के न हो जायं तबतक नियमित अध्या-पनके विषय पढ़ाना शक्ति और समयका अपव्यय है। जब मानसिक उपकरण किसी भाषाको आसानीसे और तेजीसे ग्रहण करनेके लिये काफी विकसित हो जायं तब कई भाषाओंके साथ परिचय करानेका समय होता है, उस समय नहीं जब उसे जो कुछ सिखाया जाय उसे वह कठिनाईके साथ अधूरे रूपमें पकड़ पाता है। और फिर जब कोई अपनी भाषापर अधिकार पा ले तभी उसमें अन्य भाषाओंपर अधिकार पानेकी क्षमता आती है। जब अपनी ही भाषामें भाषाई क्षमता भली-भांति विकसित न हुई हो तब अन्य भाषाओंपर अधिकार पाना असंभव है। अवलोकन, निर्णय, तर्क और तुलना करनेकी क्षमताओंके जरा-से विकासके साथ ही भौतिक विज्ञानका अध्ययन आरंभ कर देना एक व्यर्थ और अनुपयोगी श्रम है। और विषयोंके बारेमें भी यही बात है।

मातृभाषा शिक्षाका उचित माध्यम है, इसलिये बच्चेकी पहली शक्तियां उसीपर अधिकार पानेमें खर्च होनी चाहियें। प्रायः हर एक बच्चेमें कल्पना-शक्ति, शब्दोंके लिये नैसर्गिक प्रवृत्ति, नाटकीय क्षमता, विचार आदि चीजें होती हैं। इन्हें देशके साहित्य और

इतिहासमें रस होना चाहिये। मूर्खतापूर्ण और शुष्क वर्तनीकी पुस्तकोंकी जगह, यह सूखा और बेकारका काम माना जाता है, क्रमशः उसका परिचय अपने साहित्यके सबसे अधिक रुचिकर भागसे करवाना चाहिये। उसका अपने आस-पासके जीवनके साथ इस तरह परिचय कराना चाहिये कि वे उसके उन गुणोंको आकर्षित करें जिनकी मैंने अभी बात की है। इस समयका बाकी सारा अध्ययन मानसिक क्षमताओं और नैतिक चरित्रको पूर्ण बनानेमें लगना चाहिये। इस समय इतिहास, विज्ञान, दर्शन, कलाके अध्ययनकी नींव रखी जानी चाहिये, परंतु दुराग्रही और औपचारिक ढंगसे नहीं। हर एक बालक मजेदार वर्णनका प्रेमी और वीर, पूजा करनेवाला देशप्रेमी होता है। हर एक बालक प्रश्नकर्ता, शोधकर्ता, विश्लेषक और निर्दय शरीर-शास्त्री होता है। उसकी इन क्षमताओंको आकर्षित करो और उसे बिना जाने वैज्ञानिकका स्वभाव और वैज्ञानिकका आधारभूत ज्ञान पाने दो। हर बच्चेमें न बुझनेवाली बौद्धिक उत्सुकता होती है, तत्त्वज्ञान-संबंधी खोजकी ओर प्रवृत्ति होती है। इसका धीरे-धीरे उपयोग करके उसे अपने-आपको और जगत्‌को समझनेकी ओर प्रवृत्त करो। हर बच्चेमें अनुकरण करनेकी क्षमता और कल्पना-शक्ति होती है। इनका उपयोग करके उसके अंदर कलाकारकी क्षमताकी नींव रखो।

हम प्रकृतिको काम करने दें तो हम उसके प्रदान किये हुए उपहारोंका लाभ उठा सकते हैं। मानवजातिने अपने बच्चोंकी शिक्षामें, उसकी पद्धतियोंमें बाधा डालने और उन्हें व्यर्थ करनेका काम चुना है और यह करते हुए उसकी अग्रगतिमें बाधा डालने और उसे व्यर्थ करनेके लिये बहुत कुछ किया है। खुशीकी बात है कि अब ज्यादा समझदारीके विचार प्रबल हो उठे हैं। लेकिन अभीतक मार्ग नहीं मिला है। अपनी समस्त भूल-भ्रांतियों और पक्षपातोंके साथ भूतकाल हमारी गरदनमें लटक रहा है और हमें छोड़नेसे इंकार करता है। हम जब परम मेधावी मांके पथप्रदर्शनकी ओर लौटनेके लिये

उग्र प्रयास करते हैं तो वह उनमें घुस पड़ता है। हमारे अंदर यह साहस होना चाहिये कि अधिक स्पष्ट ज्ञानको अपना सके और विना किसी भयके आनेवाली पीढ़ियोंके लाभके लिये उसका उपयोग करें। फुटकर विषयोंकी पढ़ाईको मृत दुःखोंके कवाड़खानेमें धकेल दें। पहला काम है बच्चेके जीवनमें कर्म और ज्ञानके लिये रस पैदा करना, उसके ज्ञानके साधनोंको संपूर्ण रूपसे विकसित करना, वह जिस माध्यम का उपयोग करनेवाला है उसपर उसे पूरा अधिकार दिलाना। इस तरह नियमित अध्ययन शुरू करनेमें जो देर लग जायगी उसकी कमी वह तेजीसे ज्ञानार्जन करके पूरी कर लेगा। जहां आज वह कुछ चीजें बुरी तरह सीखता है वहां बहुत-सी चीजें पूर्णतया अच्छी तरह सीख पायेगा।

अध्याय ५

इन्द्रियोंका प्रशिक्षण

छः इन्द्रियां हमारे ज्ञानकी सेवा करती हैं: चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, स्पर्श, और मन। इनमेंसे अंतिमको छोड़कर बाकी सब बाहरकी ओर देखती हैं। और भौतिक स्नायुओंके द्वारा अपने भौतिक करण आंख, नाक, कान, जीभ, त्वचाके द्वारा विचार-सामग्री इकट्ठी करती हैं। अध्यापकके पहले कामोंमेंसे एक है विचारके सहायकोंके रूपमें इन इन्द्रियोंकी पूर्णताकी ओर पूरा ध्यान देना। हमें यह जानना चाहिये कि इंद्रियोंकी यथार्थता और संवेदनशीलतामें बाधा देनेवाली चीजोंको पहचानें ताकि उन्हें दूर करनेके लिये अच्छे-से-अच्छे कदम उठाये जा सकें। जो पूर्णता लाना चाहते हैं उन्हें अपूर्णताके कारणों-को समझना चाहिये।

इंद्रियां अपनी यथार्थता और संवेदनशीलताके लिये अपनी सूचनाओं-

की वाहक, स्नायुओंकी बेरोक-टोक क्रियाशीलतापर और ग्रहण करने-वाली मनकी निष्क्रिय ग्रहणशीलतापर निर्भर रहती हैं। अपने-आपमें शरीरके अवयव अपना काम पूरी तरह करते हैं। आंख ठीक रूप बतलाती है, कान ठीक ध्वनि, जिह्वा ठीक रस, त्वचा ठीक स्पर्श और नाक ठीक गंधको ग्रहण करता है। अगर हम आंखको निर्णायक उदाहरण मान लें और उसकी क्रियाका अच्छी तरह अध्ययन करें तो बात आसानीसे समझमें आ जाती है। दृष्टि-पटलपर अपने-आप ठीक बिंब बन जाता है, अगर उसका ठीक मूल्यांकन करनेमें भूल हो तो भूल अवयवकी नहीं, किसी और चीजकी होगी।

भूल स्नायु-तरंगोंकी हो सकती है। स्नायु-वाहिकासे बढ़कर कुछ नहीं है। उनमें अवयवकी दी गयी सूचनाको बदलनेकी क्षमता नहीं होती। लेकिन वाहिकामें रुकावट आ सकती है और यह रुकावट सूचनाकी पूर्णता या शुद्धिमें गड़बड़ कर सकती है। अवयवतक तो सूचना यांत्रिक रूपसे पूर्ण होती है लेकिन मनतक पहुंचते-पहुंचते गड़बड़ हो सकती है, इसमें केवल एक अपवाद होता है, जब यंत्र-रूपी अवयवमें ही दोष हो। और यह शिक्षकका नहीं, चिकित्सकका क्षेत्र है।

अगर रुकावट ऐसी हो जो सूचनाको मनतक पहुंचनेसे ही रोक दे तो परिणामस्वरूप इंद्रियोंकी संवेदनशीलता अपर्याप्त रह जाती है। देखने, सुनने, सूंघने, छूने, रस लेने या संज्ञाहीनताकी अलग-अलग अवस्थाएं, यदि चोट या स्वयं अवयवके दोषके कारण न हों, ठीक की जा सकती हैं। इसका इलाज बहुत सरल है और विभिन्न कारणों और उद्देश्योंसे यूरोपमें लोकप्रिय होता जा रहा है। वह है प्राणायाम। यह पद्धति अनिवार्य रूपसे वाहिकाओंकी संपूर्ण और बाधारहित गति-को फिरसे ले आती है। अगर ठीक तरहसे अभ्यास किया जाय तो वह इंद्रियोंकी गतिको तेज कर सकता है। योगकी परिभाषामें इसीको "नाड़ी–शुद्धि" कहते हैं।

वाहिकामें ऐसी रुकावट हो सकती है जो किसी भी अवस्थामें

पूरी तरह तो न रोके पर सूचनाओंको विकृत कर दे। इसका एक सुपरिचित उदाहरण है संवेदन क्रियापर भयका प्रभाव। चौंका हुआ घोड़ा सड़कपर पड़े बोरेको कोई जीवित जंतु मान लेता है, मनुष्य रज्जुको सांप या झूलते हुए परदेको भूतका आकार मान लेता है। स्नायु-मंडलकी क्रियाओंके द्वारा होनेवाली सभी विकृतियोंकी जड़ स्नायु-वाहिकाओंमें होनेवाली किसी भावनाकी उथल-पुथलमें होती है। इसका एकमात्र उपाय है स्थिरताकी आदत, स्नायुओंकी अभ्यासगत स्थिरता। यह चीज नाड़ी-शुद्धिसे भी आ सकती है जिससे सारा संस्थान स्थिरता पाता है, आंतरिक प्रक्रियाएं शांत-स्थिर हो जाती हैं और मनकी शुद्धिकी तैयारी होती है।

अगर स्नायु-वाहिकाएं शांत और परिष्कृत हों तो सूचनाकी गड़-बड़ केवल मनसे या मनके द्वारा आ सकती है। अब यहां मानस या छठी इंद्रिय अपने-आप स्नायुओंकी तरह एक वाहिका है, बुद्धिके साथ संपर्कके लिये वाहिका है। गड़बड़ ऊपरसे हो सकती है या नीचेसे। बाहरकी सूचनाका पहले छोरके अवयवपर चित्र बनता है और तब स्नायुमंडलके दूसरे छोर, चित्त या निष्क्रिय स्मृतिमें उसकी प्रतिकृति तैयार होती है। दृष्टि, श्रुति, घ्राण, स्पर्श, रसके सभी बिंब वहां जमा होते हैं और मानस उनकी सूचना बुद्धिको देता है। मानस इंद्रिय भी है और वाहिका भी। इंद्रियके नाते वह भी औरोंकी तरह यंत्रवत् रूपमें पूर्ण है, वाहिकाके रूपमें उसमें रुकावट या विकृति-के कारण गड़बड़ हो सकती है।

इंद्रियके रूपमें मन बाहरसे और अंदरसे सीधे विचार-संस्कार पाता है। ये संस्कार अपने-आपमें बिल्कुल ठीक होते हैं परंतु बुद्धिको अपनी सूचना देते-देते हो सकता है कि ये वहांतक पहुंचें ही नहीं या इतने विकृत होकर पहुंचें कि इनके द्वारा गलत या कुछ अंशोंमें गलत संस्कार पहुंच जायं। गड़बड़ उन संस्कारोंपर असर डाल सकती है जो आंख, नाक, कान, जीभ, त्वचाकी सूचनाके साथ आते हैं, लेकिन यहां उसमें बहुत कम शक्ति होती है। सीधे मनके संस्कारोंके बारेमें

वह बहुत ज्यादा बलवान् और साथ ही भ्रांतिका मुख्य स्रोत होती है। मन मुख्य रूपसे विचारका सीधा संस्कार लेता है, लेकिन साथ ही रूप, शब्द, उन सभी चीजोंका संस्कार लेता है जिनके लिये प्रायः वह इंद्रियोंपर निर्भर रहता है। इस संवेदनशीलताके पूर्ण विकासको हमारे यहां योगकी भाषामें सूक्ष्म दृष्टि कहते हैं। पारेंद्रिय ज्ञान (टेलीपेथी), अतींद्रिय दर्शन, अतींद्रिय श्रवण, पूर्व बोध, पर-विचार ज्ञान, चरित्र ज्ञान आदि बहुत-सी नयी विद्याएं और खोजें मनकी पुरानी क्षमताएं हैं जिन्हें अविकसित छोड़ दिया गया है। ये सब मनकी शक्तियां हैं। मानव प्रशिक्षणमें कभी छठी ज्ञानेंद्रियके विकासको कोई स्थान नहीं मिला। भावी युगमें निस्संदेह उसे मानव यंत्रके लिये आवश्यक प्राथमिक प्रशिक्षणमें स्थान मिलेगा। इस बीच इस बातका कोई कारण नहीं कि मनको बुद्धिके आगे ठीक-ठीक विवरण रखनेकी शिक्षा क्यों न दी जाय ताकि हमारा विचार भले संपूर्ण संस्कार न सही, बिल्कुल ठीक संस्कारोंसे प्रारंभ कर सके।

पहली बाधा है स्नायविक भावुकता। हम यह मान सकते हैं कि यह स्नायु-मंडलकी शुद्धिसे दूर की जा सकती है। दूसरी बाधा, स्वयं भाव ही आते हुए संस्कारको टेढ़ा-मेढ़ा कर दे। प्रेम ऐसा कर सकता है, घृणा ऐसा कर सकती है, कोई भाव या कामना अपनी शक्ति और तीव्रताके अनुसार आते हुए संस्कारको विकृत कर सकती है। यह कठिनाई केवल भावोंके संयम और नैतिक आदतोंकी शुद्धि-से दूर की जा सकती है। यह नैतिक प्रशिक्षणका अंग है और अभीके लिये इसपर विचार करना स्थगित रख सकते हैं। अगली कठिनाई है चित्तमें बने हुए पहलेके संबंधों और साहचर्यसे आनेवाले हस्तक्षेप। चीजोंको देखनेकी हमारी एक अभ्यासगत विधि है और हमारी प्रकृतिका रूढ़िवादी तमस् हमें इस बातके लिये प्रवृत्त करता है कि हम हर नयी अनुभूतिको वैसा रूप और सादृश्य दे लें जिसके हम अभ्यस्त हैं। केवल अधिक विकसित मन ही पहले संस्कारको नूतन अनुभूतिकी नूतनताके विरुद्ध निश्चेतन पूर्वाग्रहके बिना ग्रहण

कर सकता है। उदाहरणके लिये, अगर हम जो कुछ हो रहा है उसका सच्चा संस्कार पायें—और साधारणतः हम ऐसे सच्चे या झूठे संस्कारोंके आधारपर ही काम करनेके अभ्यस्त हैं—और वह हमारे प्रकाशित रूपसे भिन्न है तो चित्तमें उपस्थित पूर्व साहचर्य उससे जा मिलता है और बुद्धिके पास एक बदला हुआ विवरण भेज देता है जिसमें या तो नये संस्कारपर पुरानेकी एक परत आ जाती है और उसे छिपा लेती है या पुराना नयेमें घुल-मिल जाता है। इस विषयमें और आगे जानेका मतलब होगा मनोविज्ञानके ब्योरोंकी गहराईमें जाना। यह एक प्रतिनिधि उदाहरण ही काफी है। चित्त-शुद्धि या मानसिक और नैतिक आदतोंकी शुद्धिके बिना इस बाधासे पिंड छुड़ाना असंभव है। यह योगकी प्रारंभिक क्रिया है और हमारी प्राचीन पद्धतिमें कई तरीकोंसे की जाती थी परंतु आधुनिक शिक्षा-पद्धतिमें इसे कोई स्थान नहीं मिलेगा।

अतः यह स्पष्ट है कि जबतक हम अपनी प्राचीन भारतीय पद्धति-के कुछ सिद्धांतोंकी ओर वापिस न जायं तबतक हमें बाधाओंके इस मूलको अपने अंदर रहने देना होगा। एक सच्ची राष्ट्रीय शिक्षण-पद्धति अपने-आपको इतने अधिक महत्त्वपूर्ण विषयमें यूरोपीय विचारों-के अधिकारमें न छोड़ेगी। और एक ऐसा सरल और महत्त्वपूर्ण उपाय है जिसके द्वारा इसे हमारी पद्धतिका अंग बनाया जा सकता है।

और यह उपाय है हमारे संकल्प और हमारे वशके बाहर, हमारी निष्क्रिय स्मृतिमेंसे अपने ही संवेगद्वारा उठनेवाले विचार-संवेदनोंकी लगातार बाढ़में निष्क्रियता लाना। यह निष्क्रियता बुद्धिको पुराने साहचर्य और झूठे संस्कारोंकी कारासे मुक्त करती है। इससे उसे वह शक्ति मिलती है जिससे वह निष्क्रिय स्मृतिके भंडारसे केवल वही चीज चुने जिसकी जरूरत है। इससे अपने-आप सम्यक् संस्कार पानेकी आदत बनती है और तब बुद्धि चित्तको आदेश दे सकती है कि कौन-से संस्कार या साहचर्य बनाये या रद्द किये जायें। बुद्धिका वास्तविक कार्य है विवेक, चुनाव, चयन, व्यवस्थापना, लेकिन

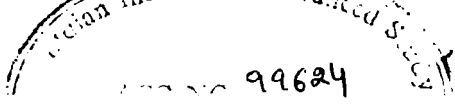
Indian Institute of Advanced S...
९९६२५

जबतक चित्त-शुद्धि न हो तबतक अपना काम पूरा करनेकी जगह चित्त स्वयं अधूरा और भ्रष्ट रहता है और मिथ्या निर्णय, मिथ्या कल्पना, मिथ्या स्मृति, मिथ्या तुलना और मिथ्या सादृश्य, मिथ्या निगमन, आगमन और निष्कर्षके द्वारा मनकी वाहिकाकी उलझनको और भी बढ़ा देता है। बुद्धिकी मुक्ति, शुद्धि और सम्यक् कार्यके लिये चित्त-शुद्धि आवश्यक है।

अध्याय ६

अभ्याससे इन्द्रियोंका विकास

ज्ञान बटोरनेमें इंद्रियोंकी अक्षमताका एक और कारण है उनका अपर्याप्त उपयोग। हम पर्याप्त अवलोकन नहीं करते या पर्याप्त ध्यान और एकाग्रताके साथ अवलोकन नहीं करते और कोई रूप, शब्द, गंध, यहांतक कि स्पर्श और रस भी प्रवेश पानेके लिये द्वार खटखटाते रह जाते हैं। निश्चय ही ग्रहण करनेवाले यंत्रकी यह तामसिक अकर्मण्यता बुद्धिकी उपेक्षाके कारण आती है और इसलिये ऐसा लगता है कि इस विषयको बुद्धिकी क्षमताओंके प्रशिक्षणके साथ आना चाहिये, भले मनोविज्ञानकी दृष्टिसे कम ठीक हो। इसे यहीं देखते चलना हमारे लिये ज्यादा सुविधाजनक है। विद्यार्थीको अपने चारों ओरके दृश्यों, शब्दों आदिको आसानीसे पकड़ सकना, उनमें भेद कर सकना, उनके गुणों, उनकी प्रकृति और उनके मूलको जानकर उन्हें चित्तमें प्रतिष्ठित कर सकना चाहिये ताकि स्मृति जब भी बुलाये वे हमेशा प्रत्युत्तर देनेके लिये तैयार रह सकें।

यह एक तथ्य है और इसे सूक्ष्म परीक्षणोंके द्वारा सिद्ध किया जा चुका है कि इंद्रियों और स्मृतिके उपयोगमें लापरवाहीके कारण

अवलोकनकी क्षमताका बहुत अधूरे ढंगसे विकास हुआ है। बारह आदमियोंको यह काम सौंपो कि वे दो घंटे पहले देखी हुई किसी चीजका स्मृतिके आधारपर वर्णन लिखें। उन सबके वर्णन एक-दूसरेसे और वास्तविक घटनासे बहुत भिन्न होंगे। हम इस अपूर्णतासे पिंड छुड़ा लें तो भ्रांतिको दूर करनेके मार्गपर काफी आगे बढ़ जायेंगे। यह इंद्रियोंका अपना काम पूर्णताके साथ करनेसे हो सकता है। अगर उन्हें यह मालूम हो कि बुद्धि उनसे इस प्रकार काम करवाना चाहती है और स्मृतिमें तथ्योंको अपने उचित स्थानपर बिठानेके लिये उचित ध्यान देती है तो इंद्रियां काफी तत्परताके साथ ठीक-ठीक काम कर सकती हैं।

मनोयोग ज्ञानका एक ऐसा तत्त्व है जिसके महत्त्वको हमेशा मान्यता दी गयी है। सम्यक् स्मृति और यथार्थताके लिये मनोयोग पहली अवस्था है। विद्यार्थी जो कर रहा है उसे दत्तचित्त हो करे, यह उसके लिये अनुशासनका पहला तत्त्व है। जैसा कि मैं कह चुका हूं, अगर मनोयोगके विषयको रुचिकर बनाया जाय तो उसे प्राप्त करना आसान है। एक ही विषयपर ध्यान देनेका नाम है एकाग्रता। लेकिन लोग प्रायः एक बात भूल जाते हैं, कई बार एक ही समय अनेक विषयोंपर एकाग्र होना अनिवार्य हो जाता है। जब लोग एकाग्रताकी बात करते हैं तो उनका मतलब होता है मनको एक समयमें एक ही विषयपर केंद्रित करना। लेकिन दो विषयोंपर, तीन विषयोंपर, अनेक विषयोंपर एकाग्र होनेकी शक्ति विकसित करना बिल्कुल संभव है। जब अमुक घटना घटती है तो वह एक ही समय होनेवाली अनेक घटनाओं या एक साथ होनेवाली अनेक स्थितियोंसे मिलकर बनती है, किसी दृश्य, किसी शब्द, किसी स्पर्श या अनेक दृश्यों, शब्दों, स्पर्शोंसे मिलकर बनती है जो एक ही समयमें या बहुत थोड़े समयमें साथ-ही-साथ इकट्ठी हो गयी हों। मनकी साधारण वृत्ति है कि वह किसी एक चीजको पकड़ लेता है और बाकीको अस्पष्ट रूपसे देखता है या बिल्कुल नहीं देखता। यदि

वह सबकी ओर ध्यान देनेके लिये बाधित हो तो वह अन्यमनस्क या उद्विग्न हो उठता है और किसी चीजपर पूरी तरह ध्यान नहीं देता। लेकिन इसका इलाज किया जा सकता है और मनोयोगको अमुक परिस्थितियोंमें इस तरह बराबर-बराबर बांटा जा सकता है कि हर एकका अवलोकन भली-भांति किया जा सके और उसे याद रखा जा सके। यह केवल अभ्यासकी बात है।

यह भी बहुत वांछनीय है कि हाथ आंखके विविध कार्य-कलापके बारेमें यथार्थता रखनेके लिये उसकी सहायता करने आ जाय। यह उपयोग इतना स्पष्ट और अत्यंत आवश्यक है कि उसपर विस्तारसे लिखनेकी जरूरत नहीं। आंखसे देखी हुई चीजकी हाथसे नकल करनेकी आदत मनकी भूलों और गलतियोंको पकड़ने और जो कुछ देखा है उसे ठीक-ठीक अंकित कर लेनेके लिये जरूरी है। हाथसे की गयी नकल अवलोकनकी यथार्थताको निश्चित कर देती है। आलेखनका यह पहला उपयोग है और यह अपने-आपमें इंद्रियोंके प्रशिक्षणके लिये एक जरूरी विषय बना देनेके लिये काफी है।

अध्याय ७

मानसिक क्षमताओंका प्रशिक्षण

मनके वे पहले गुण जिन्हें प्रशिक्षित करना है "अवलोकन"के वर्गमें गिने जा सकते हैं। हम कुछ चीजोंकी ओर ध्यान देते हैं और कुछकी उपेक्षा कर जाते हैं। और जिन चीजोंकी ओर ध्यान देते भी हैं उनका अवलोकन कम ही करते हैं। हम पूरे मनोयोगके बिना सरसरी नजर डालकर सामान्य बोध ही प्राप्त करते हैं। ज्यादा नजदीकसे देखनेपर आस-पासकी चीजोंसे अलग उसके स्थान, रूप, स्वभावका पता चलता है। अवलोकनकी क्षमताको पूरी तरह

एकाग्र किया जाय तो हमें तीनों मुख्य इंद्रियोंद्वारा प्राप्त किया जा सकनेवाला पूरा ज्ञान मिल सकता है और अगर हम छूकर या चख-कर देखें तो हमें उस वस्तुके बारेमें, उसके स्वभाव और उसके गुणोंके बारेमें पांचों ज्ञानेंद्रियोंद्वारा प्राप्त हो सकनेवाली पूरी जानकारी मिल जाती है। जो लोग छठी ज्ञानेंद्रियका भी उपयोग कर सकते हैं, जैसे कवि, चित्रकार, योगी, वे ऐसा बहुत कुछ इकट्ठा कर सकते हैं जो साधारण देखनेवालेकी आंखसे छिपा रहता है। वैज्ञानिक अपनी खोजद्वारा ऐसे ब्यौरेका पता लगा लेता है जो अधिक सूक्ष्म अवलोकनसे ही जाने जा सकते हैं। ये अवलोकनकी क्षमताके ही अंश हैं, यद्यपि स्पष्ट है कि इसका आधार है मनोयोग जो केवल गहरा भी हो सकता है और गहरेके साथ ही सूक्ष्म भी। यदि हमारे अंदर सात्विक ग्रहण-शीलताकी आदत और एकाग्रतापूर्ण मनोयोग हो तो हम एक सरसरी नजरमें भी बहुत कुछ जान सकते हैं। अध्यापकको पहली चीज यही करनी चाहिये कि विद्यार्थीमें ध्यानको एकाग्र करनेकी आदत डाले।

हम एक फूलका उदाहरण ले सकते हैं। उसपर यूं ही एक सरसरी नजर डालकर उसकी गंध, उसके रूप-रंगके बारेमें एक चलता-सा विचार बना लेनेकी जगह विद्यार्थीको फूलको जाननेके लिये प्रोत्साहित किया जाय—वह अपने मनमें उसके रंगकी ठीक छटा, विशेष चमक, गंधकी ठीक-ठीक तीव्रता, उसके रूपकी रेखा और आकृतिकी ठीक छाप ले। स्पर्श फूलकी बनावट और विशेषताओंके बारेमें पूरी तरह जान ले। उसके बाद फूलके भाग अलग-अलग करके उनकी बनावटकी उसी सावधानीके साथ परीक्षा की जाय। यह सब एक बोझिल कामकी तरह नहीं, बल्कि मनोरंजनकी चीजकी तरह किया जाय। इसके लिये विद्यार्थीके अनुकूल इस प्रकारके प्रश्न तैयार किये जायं जो एक-के-बाद-एक चीजके अवलोकन और अन्वेषण-की ओर आकर्षित करें, यहांतक कि वह पूरी चीजपर, बिना जाने ही, अधिकार पा ले।

स्मरण-शक्ति और मूल्यांकनके गुणोंकी इसके बाद जरूरत होगी और इन्हें भी उसी तरह बिना जाने बढ़ावा देना चाहिये। विद्यार्थी-को कोई पाठ याद करानेके लिये बार-बार नहीं करवाना चाहिये। यह स्मृति प्रशिक्षणका यांत्रिक, बोझिल और नासमझीका तरीका है। अब पहले जैसा ही, पर उससे भिन्न फूल बच्चेके हाथमें दिया जाना चाहिये और उसे उसका अवलोकन उसी सावधानीके साथ करनेकी प्रेरणा देनी चाहिये जिसमें मुख्य उद्देश्य यह हो कि वह उन दोनोंके सादृश्य और भिन्नताओंपर ध्यान दे। इस प्रकारके अभ्यासको रोज-रोज दोहराया जाय तो स्वभावतः स्मृति प्रशिक्षित हो जायगी। इतना ही नहीं, तुलना और वैषम्यका अवलोकन करनेवाले मानसिक केंद्रोंका भी विकास होगा। सीखनेवाला आदतसे ही चीजोंकी समा-नता और असमानता देखने लगेगा। इस क्षमता और अभ्यासके पूर्ण विकासको प्रोत्साहन देनेके लिये अध्यापकको पूरा प्रयास करना चाहिये। इसी समय मनको वंश और जातिके नियमोंका परिचय मिलने लगेगा। विकसनशील बाल-मानवका ठीक प्रकार अनुसरण और पथ-प्रदर्शन करके वैज्ञानिक अभ्यास, वैज्ञानिक वृत्ति और वैज्ञानिक जानकारीके मूलभूत तथ्योंको थोड़े ही समयमें बालकके लिये स्थायी उपकरण बनाया जा सकता है। फूलों, पत्तों, पौधों, पेड़ोंका अवलोकन और तुलना करनेसे मनके ऊपर नामों और शुष्क सूचनाओं-के भारके बिना ही वनस्पति-शास्त्रके ज्ञानकी आधारशिला रख दी जायगी। अस्वाभाविक आदतोंसे बिगड़े बिना, प्रकृतिसे आये हुए ताजा-स्वस्थ मानव मनको इस प्रकारकी रटाईसे घृणा होती है। इसी प्रकार तारोंके अवलोकनसे ज्योतिष, मिट्टी-पत्थर आदिसे भूगर्भ, कीड़े-मकोड़ों और जानवरोंके अवलोकनसे कृमि-शास्त्र और प्राणी-शास्त्रकी नींव रखी जा सकती है। इसके कुछ बाद औपचारिक शिक्षण या मनपर किताबी ज्ञान या सूत्रोंका भार डाले बिना केवल परीक्षणोंके द्वारा रसायन-शास्त्रका आरंभ हो सकता है। ऐसा कोई वैज्ञानिक विषय नहीं है जिसपर पूर्ण और स्वाभाविक अधिकार पानेकी तैयारी

बचपनमें इस तरह भिन्न प्रकारकी चीजोंके और वर्गोंके अवलोकन, तुलना, स्मरण और मूल्यांकनके द्वारा इंद्रियोंके प्रशिक्षणसे न की जा सके। यह आसानीसे किया जा सकता है और विद्यार्थीके मनमें रुचि और तल्लीनता पैदा हो सकती है। एक बार रुचि पैदा हो जाय तो हम यह विश्वास कर सकते हैं कि बालक अपने खाली समयमें पूरे उत्साहके साथ उसे आगे बढ़ायेगा। इससे बड़े होकर हर चीज कक्षामें ही करनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी।

स्वभावतः अन्य क्षमताओंके साथ मूल्यांकन और निर्णयकी क्षमता भी प्रशिक्षित होती जायगी। पग-पगपर बालकको यह निर्णय करना होगा कि रंग, ध्वनि, गंध आदिका कौन-सा भाव, मात्रा, मूल्य ठीक हैं और कौन-सा गलत। प्रायः निर्णय और प्रभेद बहुत ही सूक्ष्म और नाजुक होते हैं। शुरूमें बहुत-सी भूलें होती हैं, पर सीखने-वालेको यह बताना होगा कि अपने निर्णयपर विश्वास करे पर उसके फलके साथ चिपटा न रहे। तुम देखोगे कि शीघ्र ही निर्णयकी क्षमता की गयी मांगोंका उत्तर देने लगेगी, अपने-आपको भूल-भ्रांतिसे शुद्ध करके बारीकीके साथ ठीक-ठीक निर्णय करने लगेगी। सबसे अच्छा तरीका यह है कि बालकको यह आदत करवायी जाय कि वह अपने निर्णयोंकी तुलना औरोंके निर्णयोंसे करे। जब वह भूल करे तो पहले उसे यह बतलाया जाय कि वह कहांतक ठीक था और वह भूल क्यों हुई। बादमें उसे ये चीजें अपने-आप देखनेके लिये प्रोत्साहित किया जाय। वह जब-जब ठीक निकले तब-तब इस बातकी ओर उसका ध्यान खींचा जाय ताकि उसके अंदर विश्वास जागे।

तुलना करने और समानता-विषमता देखनेसे सादृश्य देखनेका केंद्र भी जागेगा और विद्यार्थी सादृश्य देखकर साम्यका अनुमान करना सीखेगा। लेकिन इस क्षमताको प्रोत्साहन देनेके साथ उसे इसकी सीमाओं और भूलोंका भी परिचय करा देना चाहिये। इस प्रकार वह शुद्ध सादृश्य देखनेके लिये अभ्यस्त हो जायगा जो ज्ञान-प्राप्तिके लिये अनिवार्य है।

सीधे तर्कको छोड़कर एक और क्षमता है जिसे हम छोड़ आये हैं। और वह है कल्पना। यह बहुत आवश्यक और अनिवार्य यंत्र है। इसे तीन कार्योंमें बांटा जा सकता है: १—मानसिक बिंब बनाना; २—विचारों और बिंबोंको बनानेकी शक्ति या विद्यमान विचारों और बिंबोंके नये संयोजन; ३—वस्तुओंमें आत्माका सौंदर्य, लालित्य, महानता, गुप्त संकेत, भाव और समस्त संसारमें फैले हुए आध्यात्मिक जीवनका रसास्वादन। यह उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना उन इंद्रियोंका प्रशिक्षण जो बाहरी चीजोंको देखती और उनकी तुलना करती हैं। लेकिन इसके लिये ज्यादा विस्तृत और विशद विवेचनकी जरूरत है।

मानसिक क्षमताओंका उपयोग पहले वस्तुओंपर होना चाहिये और बादमें शब्दों और विचारोंपर। भाषाके साथ हमारा व्यवहार बहुत ज्यादा औपचारिक होता है। शब्दोंके लिये सूक्ष्म संवेदनका अभाव बुद्धिको तीक्ष्ण कर देता है और उसकी क्रियाकी सूक्ष्मता और उसके सत्यको सीमित कर देता है। पहले मनको शब्दका, उसके रूप, उसकी ध्वनि और उसके भावका भली-भांति अध्ययन करना चाहिये, फिर उस रूपकी वैसी ही अन्य रूपोंके साथ सादृश्य और विभेदकी दृष्टिसे तुलना करनी चाहिये। इससे व्याकरणकी समझकी नींव रखी जायगी, फिर समान शब्दोंकी सूक्ष्म अर्थ-छटाके भेद देखने होंगे, भिन्न-भिन्न प्रकारके वाक्योंकी गठन और उनके लयको देखना होगा। इससे साहित्यिक क्षमता और वाक्य-रचनाका आधार बनेगा। और यह सब अनौपचारिक रूपसे, नियम पढ़ाये और रटाये बिना, बालकके अंदर उत्सुकता जगाकर करना होगा। सच्चे ज्ञानकी नींव अर्थपर खड़ी होती है। जब वह अर्थपर पूरा अधिकार पा लेता है तब वह अपनी जानकारीको औपचारिक रूप देता है।

अध्याय ८

तर्क-क्षमताका प्रशिक्षण

तर्क-बुद्धिका प्रशिक्षण उन क्षमताओंके प्रशिक्षणके बाद आता है जो उस सामग्रीको इकट्ठा करती है जिनके आधारपर तार्किक क्षमताको काम करना होता है। इतना ही नहीं, विचारोंके साथ सफलता-पूर्वक व्यवहार कर सकनेसे पहले शब्दोंके साथ व्यवहार करनेकी क्षमताका भी कुछ विकास होना चाहिये। प्रश्न यह है कि प्रारंभिक काम हो जानेपर बालकको आधारवाक्य लेकर ठीक तरह सोचना सिखानेकी क्या विधि है? तर्क आधार-वाक्य या भूमिकाके बिना नहीं चल सकता। वह या तो तथ्योंके आधारपर परिणामका अनुमान करता है या पहलेसे बने हुए निर्णयोंके आधारपर नये निर्णय करता है या एक तथ्यसे दूसरेकी ओर जाता है। वह अनुमान करता है, निगमन करता है या परिणाम निकालता है। मैं दिन-पर-दिन सूर्योदय देखता हूं इससे मैं यह अनुमान कर लेता हूं कि अंधेरेके कुछ कम या ज्यादा घंटोंके बाद सूर्योदय अवश्य होता है। मैं देख चुका हूं कि जहां-जहां धुंआ हो वहां-वहां आग जरूर होती है। मैंने तथ्योंको देखकर यह सामान्य नियम बना लिया है। मैं यह परिणाम निकालता हूं कि अमुक प्रकारका धुआं हो तो आग जरूर होगी, मैं यह अनुमान करता हूं कि आग किसी आदमीने लगायी होगी क्योंकि इन विशेष परिस्थितियोंमें और कोई कारण संभव नहीं दीखता। मैं यह परिणाम नहीं निकाल सकता क्योंकि आग हमेशा आदमीके लगानेसे नहीं लगती। ज्वालामुखीसे आग लग सकती है, बिजली गिरने या आस-पास किसी रगड़के कारण चिनगारियोंसे भी आग लग सकती है।

ठीक-ठीक युक्ति करनेके लिये ये तीन तत्त्व जरूरी हैं: पहला, मैं जिन तथ्यों या निष्पत्तियोंसे आरंभ करूं वे ठीक हों; दूसरे, मेरे पास पूरी और ठीक सामग्री हो; तीसरे, उन्हीं तथ्योंसे प्राप्त हो

सकनेवाली अन्य संभव या असंभव निष्पत्तियोंका खंडन। तर्क-बुद्धिकी भूलें कुछ अंशमें इन चीजोंको ठीक रूपमें प्राप्त करनेमें कठिनाई या लापरवाही या ढीलसे आती हैं। उससे भी बढ़कर पूरे-पूरे सभी तथ्य पानेकी कठिनाईसे और सबसे बढ़कर यथार्थ निष्कर्षको छोड़कर बाकी सभी संभव निष्कर्षोंको हटानेमें। गुरुत्वाकर्षणका तथ्य पूरी मजबूतीके साथ सिद्ध माना जाता है। लेकिन अगर एक भी ऐसा तथ्य निकल आये जो इसके साथ मेल नहीं खाता तो इस नियमकी तथाकथित व्यापकता उलट-पुलट जायगी। और ऐसे तथ्य मौजूद हैं। फिर भी सावधानी और कुशाग्रतासे भूलोंकी संभावनाओंको बहुत कम किया जा सकता है।

सामान्य विधि है, एक न्यायशास्त्र पढ़ाकर तर्क-बुद्धिको प्रशिक्षित किया जाता है। यह एक ऐसी प्रचलित भूलका नमूना है जिसमें किसी वस्तुकी अपेक्षा उसके किताबी ज्ञानको अध्ययनका विषय बनाया जाता है। पहले मनको तर्ककी अनुभूति और उसकी भूलें दिखानी चाहिये और उसे यह देखना सिखलाना चाहिये कि ये कैसे काम करती हैं। उसे उदाहरणसे नियमकी ओर चलाना चाहिये और नियमोंके बढ़ते हुए सामंजस्यसे इस विषयके शास्त्रकी ओर जाना चाहिये। यह नहीं कि औपचारिक शास्त्रसे, नियमोंकी ओर और नियमोंसे उदाहरणोंकी ओर चला जाय।

पहला पग यह है कि युवा मनमें, कार्य-कारण देखते हुए, तथ्योंसे निष्कर्ष निकालनेमें रस पैदा किया जाय। फिर उसे इसकी सफलता-विफलता और उनके कारणोंके अध्ययनकी ओर प्रवृत्त किया जाय। इन चीजोंकी ओर ध्यान देना होगा: प्रारंभिक सामग्रीकी भूल, अपर्याप्त तथ्योंसे निष्कर्ष निकालनेमें जल्दबाजी, असंभवसे निष्कर्षको लापरवाहीसे स्वीकार करना, ऐसे निष्कर्ष स्वीकार लेना जिनका समर्थन आधार सामग्रीसे न होता हो, जिनपर संदेह किया जा सकता हो, प्रमाद या पूर्वाग्रहके कारण अन्य व्याख्याओं या निष्कर्षोंकी ओर ध्यान देनेसे इंकार करना। इस भांति जहांतक हो सके, जहांतक

मानव तर्ककी भ्रमशीलताके बावजूद संभव हो, भूल और भ्रांतिके अवसर कम किये जा सकते हैं। न्यायशास्त्रका अध्ययन बादके लिये रखा जा सकता है जब विद्यार्थीको अपने सुपरिचित विषयको बस एक औपचारिक रूप देना होगा और इसमें अधिक समय न लगेगा।

(सेंटनेरी वाल्यूम ९७)

राष्ट्रीय शिक्षणकी भूमिका

पहला अध्याय

आधुनिक बुद्धिने विश्वविद्यालयकी शिक्षाको एक निश्चित सिद्धांतके रूपमें अनिवार्य और शुद्ध रूपसे हितकर मान लिया है। कोई प्रबुद्ध राष्ट्रीय चेतना या उदार मानस इसपर उंगली नहीं उठा सकता। यह सिद्धांत भले तर्कके परे हो या न हो, यह तो माना ही जा सकता है कि वह आजकी जातिके बौद्धिक और प्राणिक प्रयासकी एक बड़ी आवश्यकताको पूरा करता है, लेकिन किसी ऐसे न्यायसंगत या प्रबुद्ध विचारपर कोई व्यापक सहमति नहीं है कि आखिर शिक्षा है क्या या व्यावहारिक रूपमें या आदर्श रूपमें कैसी होनी चाहिये। इस अनिश्चितताकी स्थितिके साथ यह मांग भी जोड़ दी जाय कि शिक्षा राष्ट्रीय प्रकारकी हो तो स्थिति ज्यादा कठिन हो जाती है। हमारे देशकी विशेष स्थितिमें जहां एशियाई और यूरोपीय चेतनाओंका उनके द्वारा निर्मित विभिन्न सभ्यताओंका और अंग्रेज और भारतीय मानस और संस्कृतिका आपसमें संघर्ष होता है, इतना ही नहीं, जहां राजनीतिक दासताने शिक्षा देनेका पूरा-पूरा अधिकार विदेशियोंके हाथोंमें छोड़ दिया है। इस विषयपर स्पष्ट विचारोंके अभावमें ज्यादा संभावना यही रहती है, और हुआ भी यही है, कि बहुत बड़ा और अशांतिजनक गड़बड़झाला पैदा हो जाता है।

क्योंकि, अगर हम स्पष्ट रूपसे यह नहीं जानते कि सामान्य शिक्षा सचमुच क्या है या होनी चाहिये, तो यह उससे भी कम जानते हैं कि राष्ट्रीय शिक्षासे हमारा क्या मतलब है। ऐसा लगता है कि एक बात है जिससे प्रायः सभी सहमत हैं—वर्तमान विद्यालयों और विश्व-विद्यालयोंमें जो शिक्षा दी जाती है वह बुरी है, और फिर राष्ट्रीयताका हनन करनेवाली है। राष्ट्रीय मानस-आत्मा और चरित्र-को नीचा गिरानेवाली और दरिद्र बनानेवाली है, क्योंकि उसके ऊपर विदेशी हाथकी छाया है। उसका लक्ष्य, उसका तरीका, उसका तात्पर्य और भावना सब कुछ विदेशी है। लेकिन शुद्ध रूपसे यह नकारात्मक समझौता हमारी बहुत सहायता नहीं करता। वह हमें यह नहीं बतलाता कि सिद्धांत-रूपमें या व्यवहारमें हम चाहते क्या हैं, इस पद्धतिके स्थानपर किस चीजको बिठाया जाय? इस विशेषणमें भले बहुत-से गुण हों, पर किसी भी विद्यालय, महाविद्यालय, समिति या शिक्षा-परिषद्के नामके साथ राष्ट्रीय विशेषणका बिल्ला लगा देनेसे और उसे ऐसे देसी लोगोंके हाथमें रख देनेसे, जिनमेंसे अधिक-तरने उसी पद्धतिसे शिक्षा पायी है जिसका हम विरोध कर रहे हैं, उसी कलंकित पद्धतिको कुछ थोड़े-से अंतरके साथ, कुछ घटा-बढ़ाकर विस्तार और पाठ्यक्रममें थोड़ा-सा फेर-फार करके, जरा-से तकनीकी पहलूको अपनाकर यह मान बैठनेसे कि हमने समस्याका हल कर दिया, कुछ भी नहीं बदलता। इस प्रकारकी तरकीबसे संतुष्ट हो जाना ऐसा ही है जैसे कलाबाजी करके बौद्धिक गुरुत्वाकर्षण केंद्रके इर्द-गिर्द घूमकर फिर वहीं आ जाना जहां हम थे—यह मान लेना कि हम एक और ही देशमें आ गये हैं, स्पष्ट ही एक बहुत ही असंतोषजनक कार्रवाई होगी। इस नये नामसे चलनेवाली संस्थाएं अन्य संस्थाओंसे ज्यादा अच्छी शिक्षा दे रही हों या न दे रही हों, परंतु वे किस अर्थमें अधिक राष्ट्रीय हैं यह बात अधिक-से-अधिक सहानुभूति रखनेवाली आलोचक बुद्धिके लिये भी स्पष्ट नहीं है।

वास्तवमें समस्या है कठिनाई पार करनेकी, यह खोज निकालना

आसान नहीं है कि विचार या व्यवहारके किस विंदुसे शुरू किया जाय, किस सिद्धांतपर रचना की जाय या नये भवनका नक्शा किस दिशामें बनाया जाय। अवस्थाएं जटिल हैं और जिस चीजका निर्माण करना है वह एक तरहसे एकदम नयी है। हम किसी ऐसे पुराने सिद्धांत, पद्धति या उपायके पुनरुत्थान-मात्रसे संतुष्ट नहीं हो सकते जिसका कभी प्राचीन भारतमें चलन था, वह चाहे जितना महान् और भारत तथा उसकी संस्कृतिके साथ समस्वर रहा हो। या पीछे लौटना एक निर्वीर्य और असंभव प्रयास होगा, वह वर्तमानकी बड़ी आवश्यकताओं और भविष्यकी और भी बड़ी मांगोंको पूरा करनेके लिये बिल्कुल अपर्याप्त होगा। दूसरी ओर अंगरेज, जर्मन या अमरीकन विद्यालय या विश्वविद्यालयको कुछ थोड़े-से हेर-फेरके साथ अपना लेना और उसपर जरा-सा भारतीयताकी ओप लगा देना ज्यादा आकर्षक रूपसे सरल है और इसमें हम सोच-विचार या नये परीक्षण करनेकी आवश्यकतासे बच जाते हैं। लेकिन उस अवस्थामें शिक्षाके राष्ट्रीयकरणके बारेमें बहुत-सा ऊधम मचानेकी जरूरत नहीं रहती। आवश्यकता रह जाती है केवल शिक्षाका नियंत्रण और माध्यम बदलनेकी, पाठ्य-क्रमके ढांचे और साज-सामानमें कुछ हेर-फेर करनेकी और कुछ हदतक विषयोंका संतुलन बदलनेकी। मैं आशा करता हूं कि हमारे मनमें इससे ज्यादा गहरी, महान् और सूक्ष्म चीजकी खोज है। उसे रूप देनेमें चाहे जितनी कठिनाइयां आयें, हम एक ऐसी शिक्षा चाहते हैं जो भारतीय आत्माके अनुकूल हो। यहांकी आवश्यकताओं, यहांके स्वभाव और यहांकी संस्कृतिके साथ मेल खाती हो। हम ऐसी चीजकी खोजमें नहीं हैं जो केवल हमारे भूतकालकी अनुकृति हो, बल्कि विकसनशील भारतीय आत्मा उसकी भावी आवश्यकताओं, उसके भावी आत्म-निर्माणकी महानता और उसकी शाश्वत आत्माके अनुरूप हो। हमें अपने मनमें इस चीजको स्पष्ट कर लेना है और इसके लिये हमें मौलिक तत्त्वोंतक उतरना और उन्हें बड़े अंशमें कार्यान्वित करना शुरू करनेसे पहले उन्हें मजबूत बनाना है। अन्यथा,

इससे आसान और कुछ नहीं है कि झूठी, परतु ऊपरसे आकर्षक लगनेवाली पुकारके उत्तरमें या एक गलत आरंभ-विदुसे चलकर सच्चे रास्तसे भटककर ऐसी राहपर जा पड़ना जो हमें किसी लक्ष्यकी ओर नहीं, रिक्तता और असफलताकी ओर ले जाती है।

लेकिन सबसे पहले हमें इस अशक्त करनेवाली आपत्तिको अपने मार्गसे दूर करना होगा या कम-से-कम उसे अपने स्थानपर बैठाना होगा कि राष्ट्रीय शिक्षाके विचारका कोई अर्थ नहीं है या कम-से-कम ऐसा कोई अर्थ नहीं हो सकता जिसके लिये कोई कष्ट उठाया जाय। राष्ट्रीय शिक्षाकी धारणा ही एक मिथ्या और संकरे देशप्रेमका एक ऐसे क्षेत्रमें अवांछनीय, अहितकर, अनधिकार प्रवेश है जहां उसके लिये कोई वैध स्थान नहीं। यहां देशप्रेमका बस इतना ही स्थान हो सकता है कि अच्छे नागरिक होनेकी शिक्षा दी जाय। और उस एक उद्देश्यके लिये किसी विशेष प्रकार या रूपकी शिक्षाकी जरूरत नहीं है क्योंकि अच्छा नागरिक होनेकी शिक्षा अपने मूल तत्त्वोंमें सभी जगह एक-सी होगी, चाहे वह पूर्वमें हो या पश्चिममें, चाहे इंग्लैंड या जर्मनीमें हो या जापान या हिंदुस्तानमें। मानवजाति और उसकी आवश्यकताएं सब जगह एक-सी हैं, सत्य और ज्ञान एक हैं और उनका कोई देश नहीं होता। शिक्षा भी सार्वभौम होनी चाहिये जिसमें कोई राष्ट्रीयता न हो, कोई सीमाएं न हों। उदाहरणके लिये, भौतिक विज्ञानके राष्ट्रीय शिक्षणका क्या अर्थ हो सकता है? क्या इसका यह मतलब है कि हमें आधुनिक सत्य और विज्ञानकी आधुनिक शिक्षा-पद्धतिको त्याग देना चाहिये क्योंकि यह यूरोपसे आये हैं और हमें प्राचीन भारतके अपूर्ण विज्ञानकी ओर लौट जाना चाहिये, हमें गैलिलियो, न्यूटन और उनके बाद आनेवालोंको देश निकाला दे देना चाहिये और केवल वही पढ़ाना चाहिये जो भास्कर, आर्यभट्ट और वराहमिहिर जानते थे? या संस्कृत तथा अन्य जीवित भारतीय भाषाओंकी पढ़ाई लैटिन तथा यूरोपकी अन्य जीवित भाषाओंकी पढ़ाईसे किस प्रकार भिन्न होगी? तो क्या हमें

फिरसे नदियाकी चटशाला-पद्धति या अगर हम खोज सकें तो तक्षशिला और नालंदाकी शिक्षा-पद्धतियोंको अपनाना होगा? अधिक-से-अधिक यह मांग की जा सकती है कि हमारे देशके भूतकालका कुछ अधिक अध्ययन हो, माध्यमके रूपमें अंगरेजीके स्थानपर स्थानीय भाषाएं आ जायं और अंगरेजी एक गौण भाषाके रूपमें रह जाय। लेकिन इन परिवर्तनोंकी उपादेयतापर भी विवाद हो सकता है। आखिर हम बीसवीं शतीमें रहते हैं और चंद्रगुप्त या अकबरके भारतको पुनरुज्जीवित नहीं कर सकते। हमें सत्य और ज्ञानकी दौड़में आगे रहना चाहिये और अपने-आपको वास्तविक परिस्थितियोंमें जीनेके योग्य बनाना चाहिये। इसलिये हमारी शिक्षाको अपने रूप और तत्त्वकी दृष्टिसे अद्यतन और जीवन तथा भावनामें आधुनिक होना चाहिये।

ये सब आपत्तियां तभी संगत हो सकती हैं जब वे किसी ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धतिके विरुद्ध हों जो इसे अंधकारमय अवनतिका साधन बनाये, जो उन अतीत रूपोंकी ओर ले जाय जो एक बार हमारी संस्कृतिके सजीव ढांचे थे परंतु अब मर चुके हैं या मरणासन्न हैं। लेकिन हमारा यह विचार या प्रयास नहीं है। राष्ट्रीय शिक्षाकी मांगका जीता-जागता भाव यह नहीं चाहता कि हम भास्कराचार्यके गणित और ज्योतिषकी ओर वापिस जाएं या नालंदाकी शिक्षा-पद्धति अपनाएं। यह उसी तरह है जैसे स्वदेशीकी भावना रेल या मोटर परिवहनकी जगह रथ या बैलगाड़ीकी ओर वापिस नहीं ले जाती। निश्चय ही चारों ओर बहुत-सी प्रतिगामी भावुकता फैली हुई है और असली समस्याको खटाईमें डालनेके लिये सामान्य बुद्धि और तर्क-बुद्धिपर विचित्र अत्याचार हुए हैं और व्यर्थ करनेवाली सनकें पैदा हुई हैं। यह परिणामहीन, मनमौजी प्रवृत्तियां सारी चीजको एक झूठा रंग दे देती हैं। हमें भावनाके साथ, जीवित-जाग्रत् और प्राणवान सत्ताके साथ काम है। इसमें प्राचीन और अर्वाचीनका प्रश्न नहीं है। यहां चुनाव है बाहरसे लायी गयी सभ्यता और भारतीय मन और स्वभावकी अधिक महान् संभावनाओंके बीच, वर्तमान और अतीत-

के बीच नहीं, वर्तमान और भविष्यके बीच। पांचवीं शताब्दीकी ओर वापिस जानेकी नहीं, आनेवाली शताब्दियोंके उपक्रमकी मांग है। आत्मा या भारत शक्तिकी मांग वर्तमान कृत्रिम मिथ्यात्वके उलटनेकी नहीं, उससे छूटकर अधिक महान्, सहजात आंतरिक संभाव्यताओं और क्षमताओंकी ओर आगे बढ़नेकी है।

सबसे पहले राष्ट्रीय शिक्षाके विरुद्ध तर्क-वितर्क इस निर्जीव धारणासे आरंभ होता है कि किसी विषयका सीख लेना, इस या उस प्रकारकी जानकारी प्राप्त कर लेना ही समस्त कार्य या केंद्रीय वस्तु है। लेकिन विभिन्न प्रकारकी जानकारियां प्राप्त करना शिक्षाकी आवश्यकताओंमेंसे एक है और वह भी मुख्य आवश्यकता नहीं, उसका केंद्रीय उद्देश्य है मानव मन और आत्माकी शक्तियोंका निर्माण। वह ज्यादा नहीं तो कम-से-कम ज्ञान और ज्ञान तथा चरित्र और संस्कृतिका उपयोग करनेके संकल्प और शक्तिका निर्माण है जिसे मैं ज्ञान आदिका आवाहन कहना पसंद करूंगा। और इस भेदसे बहुत अधिक फर्क पड़ जाता है। यह बात पर्याप्त रूपमें सत्य है कि अगर हम केवल इतना ही चाहते हैं कि विज्ञानने हमारे आगे जो जानकारियां सुलभ कर दी हैं उन्हींको पा लें तो पश्चिमके विज्ञानको कच्चा निगल जाना या सावधानीसे बनाये गये ग्रासोंमें लेना काफी होगा। परंतु बड़ा प्रश्न यह नहीं है कि हम कौन-सा विज्ञान सीखते हैं। सवाल यह है कि हम अपने विज्ञानसे क्या और कैसे करेंगे, वैज्ञानिक मन और वैज्ञानिक खोजकी आदतको फिरसे पाकर क्या करेंगे? मैं यहां इस संभावनाको एक ओर रखे देता हूं कि स्वाधीनतापूर्वक अपने स्वभावके अनुसार काम करता हुआ भारतीय मानस भौतिक विज्ञानकी नयी पद्धतियां खोज निकालेगा या भौतिक विज्ञानको एक नया मोड़ देगा। हम उसका नाता मानव मनकी अन्य शक्तियों, और भौतिक विज्ञानके अन्य ज्ञानके साथ जोड़ेंगे जो हमारी बुद्धि और स्वाभावके अधिक प्रकाशदायक और शक्तिदायक भागोंके साथ अधिक अंतरंग संबंध रखता हो। और इसमें भारतीय मानसकी विशेष रंगत, उसकी

मनोवैज्ञानिक परिपाटी, उसकी आनुवंशिक क्षमता, उसके झुकाव और ज्ञान ऐसे सांस्कृतिक तत्त्व ले आते हैं जिनका बहुत अधिक महत्त्व है। एक भाषाका, संस्कृत या कोई और, किसी भी स्वाभाविक, कुशल और मनके लिये उत्तेजक पद्धतिसे ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इसमें हमें किसी भूत या वर्तमान शिक्षण-पद्धतिसे चिपके रहनेकी जरूरत नहीं है। मुख्य प्रश्न है कि हम संस्कृत या अन्य भारतीय भाषाओंको किस तरह सीखें कि हम अपनी निजी संस्कृतिके हार्द और अंतर्तमतक पहुंचकर अपने अतीतकी अभीतक जीवित शक्ति और अभीतक असृष्ट भविष्यकी शक्तिमें स्पष्ट तादात्म्य कैसे पैदा करें। हम अंगरेजी या कोई विदेशी भाषा किस तरह सीखें और उसका उपयोग कैसे करें ताकि अन्य देशोंके जीवन, विचार और संस्कृतिको भली-भांति जान सकें और अपने चारों ओरके जगत्के साथ उचित संबंध स्थापित कर सकें। सच्ची राष्ट्रीय शिक्षाका यही उद्देश्य और सिद्धांत है। हमारा लक्ष्य आधुनिक सत्य और ज्ञानकी अवहेलना नहीं है, हम अपनी नींव अपनी ही सत्ता, अपने मानस और अपनी आत्मापर रखना चाहते हैं।

विरोधी तर्ककी दूसरी प्रत्यक्ष या परोक्ष बात यह है कि आधुनिक, अर्थात्, यूरोपीय सभ्यता ही वह चीज है जिसे हमें प्राप्त करना है और हमें अपने-आपको उसीके अनुकूल बनाना चाहिये, इसी तरह हम जी सकते और फल-फूल सकते हैं। हमारी शिक्षाको हमारे लिये यही करना चाहिये। राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धतिका विचार इस मान्यता-को चुनौती देता है। यूरोपने अपनी प्राचीन संस्कृतिकी नींव पूर्वसे —मिस्र, केल्डिया, फिनीशिया, भारतसे—लिये हुए तत्त्वोंपर रखी थी, परंतु यूनान और रोमके निजी भाव और स्वभाव, मन और सामाजिक प्रतिभाके अनुसार उसे नया मोड़ और नया जीवन-विचार दे दिया गया। उन्होंने इसे एक बार खो दिया और फिरसे अंशतः अरबोंके द्वारा निकट पूर्व और भारतसे प्राप्त किया। नवजागरण कालमें यह और भी फैल गया। लेकिन यहां भी यूरोपने उसे टचुटॉनिक, लैटिन,

केल्टिक और स्लाव जातियोंकी स्थानीय भावना, स्वभाव, मन और सामाजिक प्रतिभाके अनुसार नया मोड़ दिया, नयी दिशा दी। इस तरहसे वनी हुई सभ्यता अपने-आपको लंवे समयसे मानव मनके अंतिम और अनिवार्य शब्दके रूपमें प्रस्तुत कर रही है लेकिन एशियाकी जातियां इसे स्वीकारनेके लिये वाधित नहीं हैं। ज्यादा अच्छा यह होगा कि वे, यूरोप जो भी न्यायसंगत विचार और नया ज्ञान दे सकता है उसे लेकर अपने ज्ञान, अपनी संस्कृति, अपने स्वभाव और भाव, अपने मानस और अपनी सामाजिक प्रतिभामें आत्मसात् कर लें और उसमेंसे भविष्यकी सभ्यताका निर्माण करें। अब पश्चिमकी वैज्ञानिक तर्कसंगत, औद्योगिक, गणतंत्रका आभास देनेवाली सभ्यता विलीन होनेकी प्रक्रियामें है। अगर हम इस डूवती हुई नींवपर अंधाधुंध अपनी दीवार खड़ी करने लगें तो यह विक्षिप्त असंगति होगी। आज जव कि यूरोपके सवसे अग्रगण्य मनीषी पश्चिमकी इस सांध्यवेलामें नयी और आध्यात्मिक सभ्यताके लिये एशियाकी प्रतिभाकी ओर आशाके साथ टकटकी लगाए हैं, यह एक विचित्र वात होगी कि हम अपने स्व और अपनी संभाव्यताओंको फेंककर यूरोपके विलीन होते हुए, मरणासन्न भूतपर अपना विश्वास टिकाएं।

और अंतमें सारी आपत्ति इस परोक्ष धारणापर आधारित होती है कि मनुष्यका मन सव जगह एक ही है और हर जगह उसे एक ही मशीनमेंसे गुजारा जा सकता है और एक ही रूपमें फरमाइशके अनुसार गढ़ा जा सकता है। यह तर्कबुद्धिका पुराना और जीर्ण-शीर्ण अंधविश्वास है और अव समय आ गया है कि इसे तिलांजलि दे दी जाय। क्योंकि वैश्व मन और मानव जातिकी आत्माके अंदर व्यष्टिगत मन और आत्मा होती है जिसमें अनंत प्रकारकी विभिन्नताएं होती हैं, अति सामान्यता होती है और विलक्षणता भी होती है। और इन दोनोंके बीच एक मध्यस्थ शक्ति होती है—राष्ट्रका मानस, प्रजाकी आत्मा। और अगर शिक्षाको मशीनकी बनी हुई इमारत नहीं बनना है, अगर वह मनुष्यके मन और आत्माका आवाहन

बनना चाहे, सत्यका भाव बनना चाहे तो उसे इन तीनोंका ख्याल रखना होगा।

दूसरा अध्याय

राष्ट्रीय शिक्षाके विचारके बारेमें इन पहली आपत्तियों और उनके द्वारा प्रस्तुत भ्रांत धारणाओंका निराकरण करनेके बाद भी हमें यह प्रतिपादित करना बाकी रहता है कि हमारे लिये राष्ट्रीय शिक्षाका क्या अर्थ है। भारतमें राष्ट्रीय शिक्षाको कौन-सा तत्त्व और रूप अपनाना चाहिये, हमें क्या प्राप्त करना है और किस विधिसे ? हमें अपने प्रयासको कौन-सा मोड़ देना होगा ? असली कठिनाई यहींसे शुरू होती है क्योंकि एक लंबे अरसेसे, न केवल शिक्षामें बल्कि लगभग सभी चीजोंमें, अपने सारे सांस्कृतिक जीवनमें हम राष्ट्रीय भावना और विचारसे संपर्क खो बैठे हैं। अभीतक स्पष्ट, स्वस्थ और गहन विचार या दर्शनके लिये कोई स्पष्ट प्रयास नहीं हुआ है जो उसे वापिस ला सके इसलिये आवश्यक और गौण तत्त्वोंमें न तो कोई स्पष्ट सहमति है और न असहमति। अधिक-से-अधिक हम प्रबल भावुकता और एक सामान्य, पर रूपहीन विचार और उत्साहसे संतुष्ट हो जाते हैं जो उस भावुकतासे मेल खाता हो। हमने उसे ऐसा रूप दे दिया जो संयोगसे हमारे बौद्धिक साहचर्य, अभ्यास या सनकोंके साथ मेल खाता है। परिणामस्वरूप कोई ठोस या स्थायी सफलता नहीं मिली, बल्कि, अधिक-से-अधिक अव्यवस्था और असफलता ही हाथ आयी। सबसे पहली आवश्यकता यह है कि हम अपने मनमें यह स्पष्ट कर लें कि राष्ट्रीय भावना, स्वभाव, विचार और आवश्यकताकी शिक्षाके क्षेत्रमें हमसे क्या मांग है। तब सच्चे सामंजस्यके साथ हम उसे समस्याके विभिन्न तत्त्वोंपर लगा सकते हैं। यह हो जानेके बाद ही हम कुछ विश्वास और उपयोगिता और सफलताकी संभावनाके साथ वर्तमान मिथ्या, रिक्त और यांत्रिक शिक्षाके

स्थानपर घटिया, निरर्थक अव्यवस्था या एक नये यांत्रिक मिथ्यात्वके स्थानपर भविष्यकी भारतीय मानवजातिके लिये एक वास्तविक, सजीव और सर्जनशील शिक्षा ला सकेंगे।

लेकिन पहले यह जरूरी है कि हमारे मनमें सच्ची शिक्षा, उसके तात्त्विक अर्थ, उसके मौलिक उद्देश्य और महत्त्वके बारेमें जो अस्पष्ट धारणाएं हैं उनसे हम पीछा छुड़ा लें। तब हम अपने प्रारंभके बारेमें निश्चित हो सकते हैं और हम शब्दके जो विशेष अर्थ लगाते हैं उसका उचित स्थान और पूरा अभिप्राय जानकर सुरक्षित रूपमें आगे बढ़ सकते हैं। यह निश्चित रूपसे जाननेके पहले कि राष्ट्रीय शिक्षा क्या है या क्या होनी चाहिये, मुझे इस बारेमें निश्चित होना चाहिये कि स्वयं शिक्षा क्या है या क्या होनी चाहिये। तो हम अपने प्रारंभिक वक्तव्यसे ही शुरू करें। मेरा ख्याल है कि उसके बारेमें बहुत तर्क-वितर्क नहीं हो सकता, यानी, तीन चीजें हैं जिनका सच्ची, जीती-जागती शिक्षामें ख्याल रखना चाहिये—मनुष्य—व्यष्टिके रूपमें अपनी अति सामान्यता और अपने अनोखेपनके साथ मनुष्य, राष्ट्र या प्रजाएं और सार्वभौम मानवजाति। इसका अर्थ यह हुआ कि वही शिक्षा सच्ची और जीवित हो सकती है जो मनुष्यके अंदर जो कुछ है उसे पूरे तौरपर ऊपर उठानेमें, उसे मनुष्य जीवनके समग्र उद्देश्य और पूर्ण क्षेत्रके लिये तैयार करनेमें और साथ ही वह जिस जाति या प्रजाका सदस्य है उसके प्राण, मन और आत्माके साथ सच्चे संबंध स्थापित करनेमें और उस महान् समग्र मानव जीवनके साथ भी उचित नाता बनानेमें सहायक हो जिसकी वह एक इकाई है और उसकी जाति या उसका राष्ट्र भी एक जीता-जागता, पृथक् और फिर भी अविच्छिन्न सदस्य है। सारे प्रश्नको उस विस्तृत और समग्र सिद्धांतके प्रकाशमें देखनेसे हमें यह स्पष्ट धारणा मिल सकती है कि हमारी शिक्षाको क्या होना चाहिये और हम अपनी राष्ट्रीय शिक्षाके द्वारा क्या उपलब्ध करना चाहेंगे। सबसे बढ़कर हमें आज, यहां भारतवर्षमें दृष्टिकी और आधारकी इस विशालताकी जरूरत है।

आज भारतके जीवन-हेतुकी, उसकी नियतिके बदलनेकी समस्त शक्ति, इस नाजुक घड़ीमें उसकी एकमेव महान् आवश्यकताकी ओर मुड़ी रहनी चाहिये—उसे व्यक्ति और राष्ट्रमें अपने सच्चे स्वको प्राप्त करना और उसका पुनर्निर्माण करना है और इस तरह अपनी आंतरिक महानताको फिरसे पाकर मानव जातिके जीवनमें अपना उचित और स्वाभाविक स्थान और भाग पाना है।

लेकिन मनुष्य और उसके जीवन, राष्ट्र और उसके जीवन, समस्त मानवता और मानव जातिके जीवनके बारेमें बहुत-सी भिन्न-भिन्न धारणाएं हैं। शिक्षाके बारेमें हमारी धारणाएं और हमारे प्रयास उनके अनुसार बहुत अलग-अलग हो सकते हैं। इन चीजोंके बारेमें भारतवर्षकी एक विशिष्ट दृष्टि और धारणा रही है। हमें यह देखना चाहिये कि क्या वास्तवमें, अधिक संभव तो यही है, उसीको हमारी शिक्षाकी जड़में होना चाहिये या वही जड़में होगी और वही एक चीज इसे सच्चा राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करेगी। भारतीय विचार-ने मनुष्यको इस रूपमें नहीं देखा कि वह एक ऐसा जीवित शरीर है जिसे भौतिक प्रकृतिने विकसित किया है, जिसने कुछ महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियां पोस ली हैं—एक अहंकार, एक मन और तर्क-बुद्धि। वह होमो जातिका एक प्राणी है और हमें "होमो इंडिकस" कहा जा सकता है। इस प्राणीका समस्त जीवन और शिक्षण, प्रशिक्षित मन और तर्क-बुद्धिके तत्त्वावधानमें वैयक्तिक और राष्ट्रीय अहंके अधिक-से-अधिक लाभके लिये इन प्रवृत्तियोंको संतुष्ट करनेकी ओर मुड़ना चाहिये। भारतका मन इस ओर भी नहीं मुड़ा है कि मनुष्य मुख्य रूपसे तर्क-बुद्धियुक्त पशु है या परिचित परिभाषाको विस्तार देते हुए यूं कहें कि वह एक विचारशील, संवेदनशील, स्वैच्छिक, प्राकृतिक सत्ता है, भौतिक प्रकृतिका मानसिक पुत्र है और उसकी शिक्षा उसकी मानसिक क्षमताओंका प्रशिक्षण होनी चाहिये। या यह कि मनुष्यकी परिभाषा राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सत्ताके रूपमें की जाय और उसकी शिक्षा एक ऐसे प्रशिक्षणके द्वारा हो जो उसे समाज

और राज्यका कुशल उत्पादक और सुनियंत्रित सदस्य बननेके योग्य बनाये। निस्संदेह ये सब मनुष्यके पहलू हैं और भारतने अपनी विशाल दृष्टिके आधीन इन्हें काफी महत्त्व दिया है लेकिन ये बाहरी चीजें हैं, मन, प्राण और क्रियाके यंत्र हैं, संपूर्ण या वास्तविक मनुष्य नहीं।

भारतने हमेशा मनुष्यको आत्माके रूपमें देखा है। वह भगवान्‌का एक अंश है जो मन और शरीरमें लिपटा हुआ है, प्रकृतिमें वैश्व स्व और आत्माकी सचेतन अभिव्यक्ति है। उसने हमेशा मनुष्यके अंदर मानसिक, बौद्धिक, नैतिक, क्रियाशील, व्यावहारिक, सौंदर्यग्राही, सुखवादी, प्राणमय और भौतिक सत्ताको रोपा और प्रतिष्ठित किया है। लेकिन इन सब चीजोंको एक ऐसी आत्माकी शक्तियोंके रूपमें देखा गया है जो इनके द्वारा अभिव्यक्त और इनके विकासके द्वारा विकसित होती हैं। फिर भी ये चीजें आत्मा नहीं हैं क्योंकि वह अपने आरोहणके शिखरपर इन सब चीजोंसे ऊपर एक आध्यात्मिक सत्तातक जा पहुंचती है और भारतने इसीमें मानव आत्माकी परम अभिव्यक्ति और उसकी चरम दिव्य मानवताके, उसके परमार्थ और उच्चतम पुरुषार्थके दर्शन किये हैं। इसी तरह भारतने राष्ट्र या जातिका अर्थ एक संगठित शासन या हथियारोंसे लैस ऐसी कार्यक्षम जाति नहीं समझा जो जीवन-संघर्षके लिये पूरी तरह तैयार हो और राष्ट्रीय अहंकारकी सेवामें सब कुछ लगानेके लिये तत्पर हो। यह तो एक लौह कवचका मुखौटा मात्र है जो राष्ट्र-पुरुषको भारग्रस्त करता है। भारतकी दृष्टिमें राष्ट्र एक सामुदायिक आत्मा और जीवन है जो समग्र रूपसे प्रकट हुई है, जो अपनी प्रकृतिको स्वभाव और स्वधर्मके रूपमें प्रकट करती है और अपने बौद्धिक, सौंदर्यग्राही, नैतिक, क्रियाशील, सामाजिक, राजनीतिक रूपोंमें और संस्कृतिमें प्रकट करती है। और इसी तरह मानव जातिके बारेमें हमारी सांस्कृतिक कल्पना भारतकी उस प्राचीन दृष्टिके अनुरूप होनी चाहिये जिसके अनुसार विश्व-रूप मानव जातिमें प्रकट हो रहे हैं और प्राण

और मनमें एक उच्च, चरम आध्यात्मिक उद्देश्यके साथ विकसित हो रहे हैं। इसमें संघर्ष और सहमतिके द्वारा एकताकी ओर बढ़ती हुई आत्मा, मानव जातिकी आत्माका ख्याल होना चाहिये जो अपनी अनुभूतियां बढ़ाती जाती है और अपनी विभिन्न जातियोंकी आवश्यक विभिन्न संस्कृतियों और जीवनके प्रयोजनोंके द्वारा आवश्यक विभिन्नताको बनाये रखती है। वह व्यक्तिकी शक्तियोंके विकासके द्वारा और अधिक दिव्य सत्ता और जीवनकी ओर प्रगतिके द्वारा पूर्णताकी खोज करती है और जातिके जीवनमें भी इस प्रकारकी पूर्णताका अनुभव करती है, यद्यपि यह ज्यादा धीमी होती है। यहां यह तर्क किया जा सकता है कि क्या यह मानव या राष्ट्रीय सत्ताका सच्चा रूप है। यदि एक बार इसे सच्चा विवरण मान लिया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि सच्ची शिक्षा केवल वही हो सकती है जो व्यक्ति और राष्ट्रके मन और शरीरमें आत्माकी वास्तविक क्रियामें सहायक हो। हमें इसी सिद्धांतपर अपना केंद्रीय उद्देश्य और निर्देशक आदर्श गढ़ना चाहिये। हमारी राष्ट्रीय शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो व्यक्तिके लिये अंतरात्मा और उसकी शक्तियों तथा संभावनाओंके विकासको ही केंद्रीय उद्देश्यके रूपमें रखे और राष्ट्रके लिये राष्ट्रीय आत्मा और राष्ट्रधर्मकी सुरक्षा, बल और समृद्धिको प्रथम स्थान दे और दोनोंको प्राण और ऊपर उठते हुए मानवजातिके मन और अंतरात्माकी शक्तिमें ऊंचा उठाये। और कभी मनुष्यके उच्चतम आदर्श, उसकी आध्यात्मिक सत्ताके जागरण और विकासको आंखसे ओझल न होने दे।

(सेंटनेरी वाल्यूम १७)

बौद्धिक शिक्षा*

अब हम बौद्धिक शिक्षापर आते हैं जो निश्चय ही शारीरिक प्रशिक्षण और चरित्रकी सुशिक्षासे अधिक बड़ा और कठिन विषय है, यद्यपि अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। भारतकी विश्व-विद्यालय-पद्धतिने अपने-आपको पूरी तरह इसी शाखातक सीमित कर लिया है और यह माना जा सकता था कि इस सीमा और शक्तिकी एकाग्रताके कारण इस एकमात्र चुनी हुई शाखामें विशेष क्षमता और संपूर्णता आयेगी परंतु दुर्भाग्यवश ऐसा हुआ नहीं। अगर हमारे विश्व-विद्यालयोंकी दी हुई शारीरिक शिक्षा तिरस्कार-योग्य और नैतिक शिक्षा शून्य है तो मानसिक प्रशिक्षण भी मात्रामें बहुत कम और गुणमें बेकार है। लोग साधारणतः कहते हैं कि चूंकि शिक्षाका लक्ष्य है नौकरी या पेशा इसलिये यह स्थिति है। मुझे यह बहुत बड़ी भूल मालूम होती है। नौकरीके लिये डिगरी जरूरी है और इस-लिये लोग डिगरी लेनेकी कोशिश करते हैं। ठीक है! रहने दो ऐसा ही। लेकिन हम यह तो कर सकते हैं कि डिगरी पानेके लिये अच्छी शिक्षा पाना एकदम जरूरी हो। अगर अपने इस लक्ष्यको पानेके लिये एकदम बेकार शिक्षा काफी हो और अच्छी शिक्षा एकदम अनावश्यक हो तो स्पष्ट है कि विद्यार्थी कभी उस चीजको प्राप्त करनेके लिये बहुत कष्ट न उठायेगा और शक्ति खर्च न करेगा जिसे वह अनावश्यक मानता है। इस वस्तुस्थितिको बदल दो, संस्कृति, और सच्चे विज्ञानको आवश्यक बना दो तो वही स्वार्थपूर्ण प्रेरक हेतु जो उसे आज बुरी शिक्षासे संतुष्ट कर देता है वही उससे संस्कृति

---

*ऐसा मालूम होता है कि यह किसी लेखमालाका अंश है परंतु श्रीअरविंदकी पांडुलिपियोंमें बस यही लेख मिला है और वह भी अपूर्ण। —सं०

और सच्चे विज्ञानके लिये प्रयास करवायेगा। व्यावहारिक होनेके नाते हमें यह मानना चाहिये कि ज्ञानके हेतु ज्ञानका शुद्ध उत्साह अपवाद स्वरूप मनोंमें या अपवाद स्वरूप युगोंमें हुआ करता है। सभ्य देशोंमें ज्ञानके लिये सामान्य चाह पायी तो जाती है लेकिन बहुधा उसके साथ यह सांसारिक भाव जुड़ा रहता है कि समाजमें अपना स्थान बनाये रखनेके लिये या अमुक लाभप्रद या सम्माननीय कार्यों या पेशोंमें सफल होनेके लिये ज्ञान जरूरी है। भारतमें हम लोग ऐसे बर्बर हो गये हैं कि हम अपने बच्चोंको बिल्कुल घटिया व्यावहारिक उद्देश्योंसे विद्यालय भेजते हैं जिनमें ज्ञानकी निःस्वार्थ चाहका कोई स्थान नहीं होता। लेकिन जो शिक्षा हमें दी जाती है वह स्वयं इस चीजके लिये जिम्मेदार है। कोई भी बुरी शिक्षाके लिये निःस्वार्थ उत्साहको नहीं पोस सकता, उसे बस किसी व्यावहारिक उद्देश्यका साधन ही माना जा सकता है। लेकिन शिक्षाको अच्छा, संपूर्ण और रुचिकर बना दो तो मनमें अपने-आप ज्ञानके लिये प्रेम जागेगा और अधिक स्वार्थपूर्ण उद्देश्योंके साथ मिलकर उन्हें कुछ बदल देगा।

हम जिस बुराईकी शिकायत कर रहे हैं उसका मूल कहीं और ही है। वह एक मौलिक और शोचनीय भूल है जिसके कारण हमने इस देशमें शिक्षाको ज्ञान-प्राप्तिके साथ उलझा दिया है और स्वयं ज्ञानका ऐकांतिक रूपसे सीमित और अनुदार अर्थ लगा लिया है। विद्यार्थीको ज्ञान देना आवश्यक है लेकिन उससे भी अधिक आवश्यक है उसके अंदर ज्ञानकी शक्तिका निर्माण करना। उसे शायद ही अच्छी दस्तकारीकी शिक्षा कहा जाय जब किसीको बढ़ई-गिरी सिखानेके लिये पेड़ गिराना तो सिखाया जाय ताकि वह अपने लिये लकड़ी जुटा सके, लेकिन उसे मेज, कुर्सी, अलमारी आदि बनाना न सिखाया जाय या उसके कामके लिये उपयोगी औजार न बतलाये जायें। फिर भी हमारी शिक्षा-पद्धति ठीक यही करती है। वह स्मरणशक्तिको प्रशिक्षित करती है और विद्यार्थीको तथ्योंका और

पुराने विचारोंका गोदाम प्रदान करती है। स्मृति लकड़हारेकी कुल्हाड़ी है और वह जो संग्रह प्राप्त करता है, काटकर गिरायी गयी लकड़ी है। जब वह इतना कर लेता है तो विश्व-विद्यालय उससे कहते हैं: "अब हम तुम्हें बैचलर ऑफ कार्पेंटरीकी उपाधि देते हैं। हमने तुम्हें एक अच्छी और तेज कुल्हाड़ी दे दी और लकड़ीका अच्छा-सा केंद्र दे दिया जिससे तुम शुरू कर सकते हो। लो, बेटे, जाओ, दुनियामें जंगल भरे पड़े हैं। अगर जंगलोंके अधिकारी आपत्ति न करें तो तुम जी-भर लकड़ी काटकर जुटा सकते हो।" जो विद्यार्थी इस तरह पढ़कर निकला है वह एक बड़ा लकड़ीका व्यापारी बन सकता है, लेकिन जबतक कि वह विशेष प्रतिभावान नहीं है, वह एक साधारण-सा बढ़ई भी न बन पायेगा। उपमासे तथ्योंकी ओर मुड़ें तो हमारे महाविद्यालयोंका पढ़ा हुआ स्नातक एक अच्छा लिपिक, अच्छा वकील या कामचलाऊ चिकित्सक बन सकता है लेकिन जबतक कि वह अपवादिक प्रतिभाशील व्यक्ति न हो वह कभी कोई बड़ा शासक, वकील या प्रसिद्ध चिकित्सा-विशेषज्ञ न बन पायेगा। यह बड़े स्थान मुख्य रूपसे यूरोपीय लोग ही भरेंगे। अगर कोई भारतीय वहांतक उठना चाहे तो उसे समुद्रसे हजारों मीलकी यात्रा करनी होगी ताकि उदार ज्ञान, मौलिक विज्ञान और स्वस्थ प्रशिक्षणके वातावरणमें सांस ले सके। और फिर भी वह कभी-कदास ही सफल होता है क्योंकि उसके फुफ्फुस बहुत ज्यादा कमजोर हो जाते हैं और उस वातावरणमें लंबे श्वास नहीं ले पाते।

सबसे पहली मौलिक भूल यह हुई है कि हमने अपने-आपको स्मृति-की संचयन-शक्तिके प्रशिक्षण और तथ्योंके संचयतक ही सीमित रखा है और उपयोगकी तीन महान् क्षमताओं, यानी, तर्क-शक्ति, तुलना, भेद करनेकी शक्ति तथा अभिव्यक्त करनेकी शक्तिकी उपेक्षा की है। ये क्षमताएं कुछ हदतक जंगली आदमीसे ऊपरके स्तरके सभी लोगोंमें होती हैं और स्वयं जंगली आदमीमें भी अल्पविकसित रूपमें

होती हैं। परंतु वे सभ्य जातियोंके उच्चतर वर्गोंमें जहां इन उच्चतर वर्गोंने लंबी शतियोंतक शिक्षा पायी हो, विशेष रूपसे विकसित पायी जाती हैं। लेकिन ये क्षमताएं स्वभावतः, चाहे जितनी विकसित क्यों न हों, इनके प्रशिक्षणकी जरूरत होती है, यानी, उनकी स्वाभाविक योग्यताओंको प्रकट करना होता है—और यही शिक्षाका असली सार है। अगर यौवनमें ही इतना विकास न हो जाय तो इन्हें जंग लग जाता है और धूल ढक लेती है और वे कार्य करना बंद कर देती हैं, सिवाय इसके कि कहीं-कहीं दुर्बल, संकरे और आंशिक रूपमें प्रकट हो जायें। अपवादिक प्रतिभा उपेक्षा और उत्साह-भंगके बावजूद अपने-आपको बनाये रखती है। लेकिन अपने-आप विकसित प्रतिभा उतने अच्छे, स्वतंत्र और महान् परिणाम नहीं लाती जितने कि वही प्रतिभा पूरी तरह प्रशिक्षित और सुसज्जित होनेपर ला सकती। ज्ञानकी राशि अपने-आपमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। अधिक महत्त्वपूर्ण है जो हम जानते हैं उसका अच्छे-से-अच्छा उपयोग करना। हमारे शिक्षाविदोंकी यह सरल-सी मान्यता कि हमें मनको ज्ञानके प्रत्येक विभागके पल्लवग्राही तथ्य दे देने चाहियें और यह विश्वास रखना चाहिये कि मन अपने-आप अपना उचित मार्ग ले लेगा, विज्ञानके विरुद्ध, मानव अनुभूतिके विरुद्ध और सभ्य देशोंके व्यापक मतके विरुद्ध है। प्रतिभाशाली जातियोंमें बौद्धिक ह्रासका इतिहास हमेशा केवल ज्ञानके, वृद्धिके द्वारा इन तीन क्षमताओंके रोक दिये जानेसे शुरू होता है। हमने राष्ट्रके रूपमें बहुत कुछ खोया है लेकिन हमने सदा बौद्धिक सतर्कता, द्रुतता और मौलिकताको सुरक्षित रखा है, लेकिन यह अंतिम देन भी हमारे विश्व-विद्यालयोंकी शिक्षा-पद्धतिके मारे संकटमें है। अगर यह चली गयी तो वह असुधार्य ह्रास और अंतिम अवसानका आरंभ होगा।

इसलिये सुधारका सबसे पहला कदम ही ऐसा होना चाहिये जो हमारी शिक्षाके सारे लक्ष्य और उसकी पद्धतिको बदल दे। हमें अपने अध्यापकोंको इस बातके लिये अभ्यस्त करना चाहिये कि वे

अपनी शक्तिके दसमेंसे नौ भाग सक्रिय मानसिक क्षमताओंकी शिक्षामें लगायें, निष्क्रिय और बनाये रखनेकी क्षमता जिसे हम स्मृति कहते हैं, उसे सुनिश्चित और मान्य स्थान मिलना तो चाहिये परंतु वह उन क्षमताओंके नीचे हो। हमें अपने विद्यालयों और विश्वविद्यालयोंकी परीक्षाओंको स्मरण-शक्तिकी नहीं, बल्कि इन क्षमताओंकी परीक्षाकी ओर मोड़ना चाहिये। यह एक ऐसा लक्ष्य है जो केवल पाठ्य-क्रममें परिवर्तन या हेरा-फेरीसे नहीं प्राप्त हो सकता। यह ठीक है कि अमुक विषय किन्हीं विशेष क्षमताओंको विकसित करनेके लिये औरोंसे ज्यादा उपयुक्त होते हैं। शुद्ध तर्कणा-शक्तिको ज्यामिति, न्यायशास्त्र तथा राजनीतिक अर्थशास्त्रसे बहुत सहायता मिलती है। भाषाओंके अध्ययनसे प्राप्त होनेवाले सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण लाभोंमें-से एक यह है कि वह अभिव्यक्त करनेकी शक्तिको बढ़ाता है और इतिहासके अध्ययनसे बढ़कर तुलना और विभेदनकी क्षमताको नहीं बढ़ा सकता। लेकिन भाषाके सिवाय और कोई विशेष विषय अनि-वार्य नहीं है और यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि किसी क्षमता-के विकासके लिये अमुक विषय ऐकांतिक रूपसे उपयोगी है। उदा-हरणके लिये, बुद्धिके ऐसे प्रकार हैं जो सहज रूपमें ज्यामितिकी समस्याएं सुलझाने या तर्क-शास्त्रकी औपचारिक पद्धतिका प्रयोग करनेमें अक्षम हैं और फिर भी बुद्धिके अन्य क्षेत्रोंमें गहरे, प्रतिभा-शाली और समीचीन तार्किक या विचारक हैं। वास्तवमें गणन-शास्त्रोंको छोड़कर ऐसा शायद ही कोई विषय हो जो योग्य शिक्षकके हाथमें आकर मनकी सामान्य क्षमताओंके विकासका अवसर न देता हो। इसलिये सबसे पहली चीज है पढ़ानेकी वर्तमान पद्धतियोंका पूरा-पूरा बहिष्कार, इनकी जगह विकसित यूरोपीय देशोंमें व्यापक रूपसे अपनाये जानेवाले तरीके ले सकते हैं।

लेकिन हमारी शिक्षा-पद्धतिने ज्ञानोपार्जनके जिस संकरे क्षेत्रमें अपने-आपको सीमित कर लिया है उसमें भी उसने ऐसी और इतनी ही बड़ी भूलें करनेका अपराध किया है। शुद्ध गणितको छोड़कर,

जो अपने पैरोंपर अलग खड़ा रहता है, वाकी ज्ञानको दो मुख्य भागोंमें वांटा जा सकता है: वस्तुओंका ज्ञान और मनुष्यका ज्ञान, अर्थात्, मानव विचार, मानव क्रिया-कलाप, मानव स्वभाव और साहित्य, इतिहास, दर्शन, कला आदिमें अंकित, अभिलिखित या चित्रित मानव सृजन। पीछे वर्णित शाखा मानविकीकी परिभाषामें आ जाती है। पहले उदार शिक्षा इसीतक सीमित मानी जाती थी। हालांकि, वादमें उसे विस्तृत करके उसमें गणितको भी स्थान मिल गया और उसके भी वाद, आधुनिक कालमें उसे इतना वढ़ाया गया कि उसमें किंचित् विज्ञानको भी स्थान मिल जाय। ज्ञानके परिवार-में मानविकी, गणित और विज्ञान, ये तीन वहनें हैं और इन दिनों किसी भी स्वमानवाली शिक्षा-पद्धतिको ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि एक पर तो अच्छी तरह अधिकार पाया जा सके और दूसरोंका भी थोड़ा-वहुत परिचय हो। हमारी पद्धतिकी पहली वड़ी भूल यहीं है। हम अपने विद्यार्थियोंको हर चीजके ज्ञानके कठोर और लौह कार्यक्रममेंसे गुजारनेपर आग्रह करते हैं लेकिन हम उन्हें सचमुच किसी भी विषयका वास्तविक ज्ञान नहीं देते। उदाहरणके लिये, गणित एक ऐसा विषय है जिसका पूरा-पूरा ज्ञान दे सकना कठिन नहीं होना चाहिये। उसके अधिकतर मार्ग काफी घिसे पिटे हैं। वह एक यथार्थ और सुनिश्चित विषय है जो अपने-आपमें साहित्य या इतिहासकी तरह मौलिक विचार और मूल्यांकनकी मांग नहीं करता। फिर भी कलकत्तासे वंवई और केंब्रिज जानेवाले विद्यार्थियोंका निरपवाद अनुभव यह है कि प्रथम वर्षके वाद ही उन्होंने जो कुछ सीखा होता है वह चुक जाता है और उन्हें एकदम नये और अपरिचित परिणामकी ओर जाना पड़ता है। यह सचमुच एक शोचनीय अवस्था है कि यहां भारतमें गणितका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना असंभव है और इसका पूरा-पूरा ज्ञान पानेके लिये हमें हजारों रुपये खर्च करके मीलों दूर जाना पड़ता है। फिर अगर हम विज्ञानकी ओर देखें, हमारी पद्धतिके द्वारा प्राप्त थोड़े-से विज्ञानका

परिणाम क्या है? अधिक-से-अधिक यही कि वे अच्छे शिक्षक बनकर उसी चक्कीमेंसे अन्य विद्यार्थियोंको निकालते जायें जिसमें वे अपने-आप पिसे थे।...

(सेंटनेरी वाल्यूम ३से) (अपूर्ण)

भारतीय मस्तिष्क*

अध्याय १

शायद वह समय आ गया है जब चिरकालसे राजनैतिक और आर्थिक समस्याओंमें उलझा हुआ भारतीय मस्तिष्क अपने क्षितिजको अधिक विस्तृत करे। ऐसा विस्तार विशेष रूपसे बंगालके लिये आवश्यक है।

बंगाली सदासे भारतकी उच्चतर चिंतन-धाराका नेतृत्व करता आया है और अब भी कर रहा है, क्योंकि जिस नवीन जातिका उदय होनेको है उसके लिये जिन गुणों और शक्तियोंकी सबसे अधिक आवश्यकता है वे उसमें विशिष्ट रूपसे विद्यमान हैं। उसमें वह भावुकता और कल्पना-शक्ति है जो महान् प्रेरणाओंके प्रति उद्घाटित होती है, वे शक्तिशाली हृदयोत्तेजक विचार हैं जो उस समय मानव-जातिको प्रेरित करते हैं जब कि उसे आगे एक बहुत बड़ा कदम उठाना होता है। उसे हृदयके द्वारा सोचनेकी अनमोल देन प्राप्त है। उसे एक ऐसी सूक्ष्म बुद्धि भी प्राप्त है जो विशिष्ट सीमाओंके भीतर अर्थकी सूक्ष्म भिन्नताओं और विचारकी सुन्दर वारिकियोंको—दोनों प्रकारकी, जिन्हें तर्कबुद्धि ग्रहण करती है और जो निरी तर्क-

---

*यह लेखमाला 'कर्मयोगिन्'में १९०९में छपी थी।

बुद्धिकी पकड़में नहीं आतीं—ग्रहण करनेमें समर्थ है। सबसे बढ़कर, उसमें अन्य जातियोंकी अपेक्षा अधिक मात्रामें अपरोक्ष ज्ञानकी वह अविकसित शक्ति विद्यमान है जो मानवजातिमें सोयी पड़ी है और जिसे अब विकसित करना है, जो तर्क और कल्पनासे ऊपर है—यही वह शक्ति है जो (बंगाली) जातिकी सर्वोत्कृष्ट विभूति श्री रामकृष्णमें विद्यमान थी और वह बिना किसी भी प्रकारकी शिक्षाके जिस ज्ञानकी इच्छा करते थे उसे सरलतापूर्वक और दिव्य रूपमें प्राप्त कर लेते थे। वह एक ऐसी शक्ति है जो अभी मानव जातिमें अनियमित ढंगसे काम करती है, क्योंकि वह अपरिचित है और व्यक्तिकी स्मृतिमें संचित कल्पना, सीमित तर्कबुद्धि तथा पुराने संस्कारोंके हस्तक्षेपके द्वारा उसकी क्रिया उलझ-सी गयी है। प्राचीन भारतीय ऋषियोंने जिस अभ्यासका योगशास्त्रमें निरूपण किया है उस अभ्यासके बिना इस मनःशक्तिको एक सर्व-स्वीकृत और स्वाभाविक साधन नहीं बनाया जा सकता। किंतु कुछ जातियोंमें सामान्य मानवजातिकी अपेक्षा उस शक्तिका कार्य अधिक विकसित अथवा विकासके लिये अधिक तैयार होता है और ये ही वे जातियां हैं जो भावी क्रम-विकासका नेतृत्व करेंगी। इसके अतिरिक्त, इस जातिको एक प्रबल संकल्प-शक्ति प्राप्त है जो दीर्घकालीन 'शक्ति'-पूजा और तंत्र-साधनासे उत्पन्न होती है और यह बात अनेक शताब्दियोंसे हमारी संस्कृतिका अंग रही है। कोई भी अन्य जाति इतने थोड़े-से वर्षोंमें अपने समूचे राष्ट्रीय चरित्रमें ऐसा क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं ला सकती थी जैसा कि बंगालीने किया है। बंगालने हमेशा ही दिव्य शक्तिको उसके परम सुन्दर, परम भयंकर रूपोंमें भी उपासना की है; चाहे मां सुन्दर रूपधारिणी हों, चाहे भीषण, वह कभी भय या भयमिश्रित आदरके कारण उनके सामने झिझका नहीं। जब भागवती शक्ति उसमें प्रवाहित हुई तो वह कभी उस शक्तिके प्रति आत्म-समर्पण करनेमें भयभीत नहीं हुआ और वह अनंत प्रेरणा उसे कहां ले जायगी इस बातकी परवाह किये बिना ही उस प्रेरणाका

अनुसरण करनेमें वह कभी नहीं डरा। इसके परिणामस्वरूप वह 'शक्ति'का सर्वथा पूर्ण आधार, 'अनंत संकल्प' और 'शक्ति'का, जिन्हें जगत् अभी अपने भीतर धारण किये हुए है, सबसे सक्षम तथा संवेदनशील और आज्ञाकारी यंत्र बन गया है। हाल ही में वह 'संकल्प' और 'शक्ति' उसमें उमड़ पड़ी है और उसे उसके भगवन्निर्दिष्ट भावी कार्य और भवितव्यताकी ऊंचाईतक ऊपर उठा रही है। अब उसे 'शक्तिमयी' मां को अपने भीतर ग्रहण करने और सुनिश्चित एवं स्थायी रूपसे उन्हें प्राप्त कर स्वयंमें धारण करनेका रहस्य सीखना होगा। यही कारण है कि हमने अब आगेकी आवश्यकता और अनिवार्य आगामी विकासके रूपमें एक धार्मिक और एक आध्यात्मिक जाग्रतिकी ओर संकेत किया है।

किंतु अपनी महान् संपदाओंके साथ-साथ बंगालीमें गहरी कमियां भी हैं। शेष भारतीयोंकी तरह ही उसमें ज्ञानकी बड़ी भारी कमी है; यह एक ऐसी शिक्षाका फल है जो परिणाममें अत्यंत अल्प तथा पद्धति और स्वरूपमें सर्वथा दूषित है। और शांत नियमबद्ध तथा सर्वांग चिंतनकी क्षमतामें वह भारतकी दूसरी जातियों, जैसे मद्रासी और मराठासे हीन है। इसी शक्तिको प्रायः बुद्धि या तर्क-शक्ति कहा जाता है और यद्यपि यह विचारके संपूर्ण रूपसे बहुत भिन्न वस्तु है, तथापि विचार और कर्मकी परिपूर्णताके लिये आवश्यक है। अपने-आपमें तर्क-बुद्धि ठीक नपी-तुली भाषाका प्रयोग करनेवाले और सावधान, विद्वान्, गंभीर आलोचक, बुद्धिवादी और फूंक-फूंककर पांव रखनेवाले राजनीतिज्ञ, परंपरावादी वैज्ञानिकका, मनुष्योंके उस विशाल बौद्धिक समुदायका निर्माण करती है जो धीमी और सावधान प्रगतिमें सहायक होता है। वह वीर और नव-स्रष्टा, दिव्य प्रेरणासे प्रेरित सिद्ध पुरुष, महान् निर्माणकर्ता और राष्ट्रोंके निर्माताकी रचना नहीं करती; वह प्रकृति और भवितव्यतापर विजय प्राप्त नहीं करती, भविष्यपर अपना आधिपत्य स्थापित नहीं करती, जगत्का शासन नहीं करती: शेष भारत अधिकांशमें इसी विशिष्ट बौद्धिक शक्तिसे

अधिकृत और परिसीमित है, यही कारण है कि वह पीछे रह जाता है जब कि बंगाल तेजीसे दौड़कर आगे बढ़ जाता है। शेष भारत उस 'शक्ति'को अपना समर्पण करनेमें डरता रहा है जो राष्ट्र-को ऊंचा उठानेके लिये ऊपरसे उतरी थी; उसने या तो उसकी पुकारको सुननेसे इंकार किया है या अपने अधिकारों और स्वार्थोंको सुरक्षित रखनेका प्रयत्न किया है और उस शक्तिको परिचालित करने और नियंत्रणमें रखनेका आग्रह किया है। थोड़े-से शक्ति-शाली महान् पुरुषोंने आगे कदम बढ़ाये हैं और वे अपनी जाति या उसके एक भागको अपने साथ आगे ले चले हैं, किंतु सारी जाति आत्मासे अनुप्राणित होनी चाहिये, तभी वह भविष्यके कार्यके योग्य बन सकती है।

अपनी ओरसे बंगालीको चाहिये कि अपने भीतर प्रवेश करते हुए दिव्य शक्तिके प्रबल प्रवाहको किसी भी प्रकार न रोके, अपने दैत्यके जैसे लंबे-लंबे डगोंको किसी भी प्रकार छोटा न करे, किंतु वह अपने मार्गपर चलते हुए यह देखना अवश्य सीखे कि मैं किधर जा रहा हूं। एक प्रशिक्षित विचार-शक्तिके अभावमें वह अवश्य ही उन विचारोंका अनुसरण करता है जो उसके मनपर अधिकार जमा लेते हैं, किंतु वह उन्हें बिल्कुल अपनी निजी वस्तु नहीं बना लेता। यदि वह उन विचारोंको पल्लवित करता भी है तो बड़ी जल्दीसे, किंतु सर्वांगीण रूपमें नहीं, और इसका परिणाम यह हुआ है कि यद्यपि उसने अपने चारों ओरकी निकटवर्ती परिस्थितियोंके संबंधमें उन विचारोंका उपयोग बड़ी शक्तिमत्तापूर्वक किया है तथापि परिस्थितियों-का एक नया समूह उसके समक्ष उपस्थित होकर उसे किंकर्तव्यविमूढ़ बना देता है और तब वह उन थोड़े-से मनुष्योंसे पथ-प्रदर्शन पानेकी प्रतीक्षा करता है जिनकी ओर अपने विचार और कर्मकी प्रेरणाके लिये मुड़नेका वह अभ्यस्त हो गया है। यह दुर्बलताका स्रोत है। वर्तमानके और उससे भी अधिक भविष्यके कार्यके लिये यह अनिवार्य रूपसे आवश्यक है कि विचार और ज्ञानके एक ऐसे केंद्रका निर्माण

हो जो राष्ट्रके मस्तिष्कमें एक उतनी ही बड़ी कायापलट कर दे जितनी कि उसके चरित्र और दृष्टिकोणमें हो चुकी है। हमारी सभ्यताके लिये नये हृदयकी आवश्यकता थी, और, यद्यपि उसका नव निर्माण पूरा नहीं है तथापि, उस दिशामें जो कार्य किया जा चुका है वह उसके भविष्यमें पूर्ण होनेका सुनिश्चित आश्वासन है। एक नये मस्तिष्ककी भी आवश्यकता है और साथ ही पर्याप्त ज्ञानकी, जिससे कि नया मस्तिष्क पूर्ण सम्यक् रूपसे अपना कार्य कर सके।

अध्याय २

विचारके एक नये केंद्रका अर्थ है शिक्षाका एक नया केंद्र। हमारे विश्वविद्यालयोंमें प्रचलित शिक्षा-पद्धति एक ऐसी पद्धति है जो मानव मनोविज्ञानकी उपेक्षा करती है, सावधानीसे लाल फीतेसे बंधे हुए जानकारीके असंख्य छोटे-छोटे पुलिंदोंसे मनको बड़ा परिश्रम-पूर्वक लाद देती है, और, लादनेकी इस प्रक्रियामें प्रयुक्त तरीकोंसे, मनुष्यकी उन नैसर्गिक शक्तियों और उपकरणोंको क्षति पहुंचाती या निष्क्रिय निर्जीव बना देती है जिनके द्वारा वह ज्ञानको आत्मसात् करता है, नयी सृष्टि करता है तथा मेधा, पौरुष और शक्तिका विकास करता है। बंगालमें जिस नवीन राष्ट्रीय शिक्षाका श्रीगणेश हुआ उसने ज्ञानके उस क्षेत्रको अत्यंत विस्तृत बनानेका प्रयत्न किया जिसमें विद्यार्थीका प्रवेश कराया जाता था, और जहांतक उस शिक्षाने प्रयोग और निरीक्षणपर बल दिया, मातृभाषाके स्वाभाविक और सरल साधनाका उपयोग किया और पाठ्य-विषयपर चिंतनकी क्रिया-को प्रोत्साहित किया वहांतक उसने मिथ्या-पद्धतियोंके उपयोगद्वारा ज्ञान-प्राप्तिके उपकरणोंको विकृत करनेकी आदतका सुधार किया। किंतु पुरानी पद्धतिके द्वारा प्रयुक्त अनेक दूषित एवं हानिकारक रीतियों तथा विचारोंको नवीन प्रणालीने सच्चाईके साथ अपने भीतर पाल-पोसकर रखा और 'समिति'में पुरानी लकीरके पुजारियोंके प्रभुत्वके

परिणामस्वरूप शिक्षा-प्रणालीकी सबसे अधिक प्रगतिशील विशेषताओंकी विशुद्धतापर एक अत्यंत हानिकारक प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। नई शिक्षा-पद्धतिका दूसरा गंभीर, घातक दोष यह था कि उसने उस वाह्य ज्ञानकी मात्राको तो बढ़ा दिया जिसे आत्मसात् करना विद्यार्थीसे अपेक्षित था, किंतु बौद्धिक श्रमके बढ़े हुए पहाड़से सफलतापूर्वक जूझनेके लिये उसने पर्याप्त रूपमें शरीर और मस्तिष्कको सबल-सुदृढ़ नहीं बनाया, और पुरानी पद्धतिका यह दोष भी उसमें था कि उसने जातिके मनोवैज्ञानिक स्वभावकी उपेक्षा की। ज्ञानके क्षेत्रमें भारतीय विचार-धारा और संस्कृतिकी विषय-सामग्रीको सम्मिलित कर लेने मात्रसे कोई शिक्षा-पद्धति भारतीय नहीं बन जाती, और 'बंगाल नैशनल कालेज'में दी जानेवाली शिक्षा केवल एक सुधरी हुई यूरोपीयन शिक्षा-पद्धति ही थी, भारतीय या राष्ट्रीय नहीं। दूसरी भूल जिससे बचना आवश्यक है और जिसे प्रमादी चित्त सहज ही कर सकता है, वह है ऐसा प्रक्रियावादी विचार कि राष्ट्रीय होनेके लिये शिक्षाको बंगालकी पुरानी 'टोल' परिपाटीकी विशेषताओंकी पुनरावृत्ति करनी चाहिये। हमें अठारहवीं शताब्दीके भारतको, उस भारतको जिसने अपनी नैतिक और बौद्धिक कमियोंके कारण स्वयंको अपनी रक्षाके लिये विदेशियोंके हाथोंमें सौंप दिया था, फिरसे जीवित नहीं करना है, किंतु प्राचीन और महत्तर भारतकी आत्मा, आदर्शों और पद्धतियों-को एक और भी अधिक प्रभावशाली रूपमें तथा एक अधिक आधुनिक संगठनके रूपमें जीवित करना है।

उस महाविपुल बौद्धिकता, आध्यात्मिकता और अतिमानवीय नैतिक शक्तिका रहस्य क्या था, जिसे हम रामायण और महाभारतमें, प्राचीन दर्शन-शास्त्रमें, भारतके सर्वोत्कृष्ट काव्य, कला, शिल्प और स्थापत्यमें स्पंदित होते हुए देखते हैं? उन अतुलनीय सार्वजनिक कार्यों और निर्माणकलाकी सफलताओंका, समृद्ध और परमोत्कृष्ट उद्योग-शिल्पका, भौतिकशास्त्र, विद्वत्ता, न्याय-विधान, तर्कशास्त्र, तत्त्व ज्ञानकी महान् विजयोंका, उस अनुपम समाज-व्यवस्थाका आधार क्या

था? क्षत्रिय, सिख और राजपूतकी वीरता और आत्म-त्यागका, राष्ट्रकी अजेय प्राणशक्ति और कष्ट-सहिष्णुताका आधार क्या था? क्या चीज थी उस सभ्यताके पीछे जो अपने आकारकी गौरवपूर्ण विशालता अथवा अपनी सर्वांगपूर्णतामें अपना सानी नहीं रखती थी? एक महान् और अद्वितीय अनुशासनके विना जिसमें आत्मा और मनकी एक सर्वांगपूर्ण शिक्षा निहित हो, ऐसा विशाल और चिरस्थायी परिणाम असंभव होता। प्राचीन आश्रमों और विश्वविद्यालयोंमें दी जानेवाली शिक्षा-संबंधी वारीक ब्योरेकी बातोंमें, जहांतक कि प्राचीन परंपरासे वे हमें प्राप्त हुई हैं, आर्योंकी सफलताका रहस्य ढूंढ़नेका प्रयत्न करना एक भूल होगी। हमारे लिये यह जानना आवश्यक है कि वह सिद्धांत और आधार क्या था जिसपर वे ब्योरेकी बातें प्रतिष्ठित थीं। मानव मनोविज्ञानके एक गंभीर ज्ञानमें तथा बौद्धिक प्रशिक्षा और शिक्षाकी पद्धतियोंके भीतर उस ज्ञानके सूक्ष्म उपयोगमें हमें प्राप्त होगा आर्योंकी सफलताका रहस्य।

आर्योंकी प्राचीन शिक्षा-पद्धतिके मूलमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु थी ब्रह्मचर्यका अभ्यास। बौद्धिक ज्ञानके एक विशाल भवनका निर्माण करनेके लिये सर्वप्रथम आवश्यकता है एक ऐसी सुदृढ़ आधार-शिलाकी जो उसके भारको वहन कर सके। वे शिक्षा-पद्धतियां जो मानव प्रकृतिके अधूरे ज्ञानसे आरंभ करती हैं, सोचती हैं कि जब विद्यार्थीको उन अनेक विविध विषयोंसंबंधी, जो तत्कालीन मानव संस्कृतिके सर्वोत्तम अंग हों, विस्तृत या भली प्रकार चुनी गयी ज्ञानकी राशि प्रदान कर दी जाती है तो एक संतोषजनक आधार-शिला स्थापित करनेका कार्य संपन्न हो जाता है। उनका सिद्धांतसूत्र यह है कि विद्यालय सामग्री प्रदान करता है, उसका उपयोग करना विद्यार्थीका काम है। किंतु यहां एक बुनियादी भूल हो रही है। निरी जानकारी बौद्धिक शक्तिका आधार नहीं हो सकती, वह केवल उस सामग्रीका एक अंश हो सकती है जिसमेंसे ज्ञाता ज्ञानका निर्माण करता है, वह केवल नवीन आविष्कार और विशालतर सृजनका आरंभ-

विंदु, केंद्र विंदु हो सकती है। वह शिक्षा जो केवल ज्ञान देनेतक ही अपने-आपको सीमित रखती है, कोई शिक्षा नहीं है। स्मृति, निर्णय, कल्पना, प्रत्यक्षीकरण, तर्क आदि विविध मानसिक शक्तियोंको, जो ज्ञाताके लिये विचार और ज्ञानके भवनका निर्माण करती हैं, न केवल उपयुक्त और पर्याप्त उपकरणों और सामग्रियोंसे संपन्न करना होगा अपितु, उन्हें नई सामग्रियां प्राप्त करनेके लिये और जो सामग्रियां प्राप्त हैं उनका अधिक कुशलतापूर्वक उपयोग करनेके लिये प्रशिक्षित करना होगा। और जिस भवनका उन्हें निर्माण करना है, उसकी एकमात्र आधारशिला हो सकती है शक्ति और ऊर्जाके एक ऐसे भंडारका संचय जो स्मृति, निर्णय और सृजनात्मक शक्तिकी चिर-वर्धमान क्रियाकी मांगोंका भार वहन करनेके लिये पर्याप्त हो। वह शक्ति वहां प्राप्त होगी ?

प्राचीन आर्य यह जानते थे कि मनुष्य विश्व-सत्तासे पृथक् नहीं है, अपितु उसका एक समधर्मी अभिन्न अंगमात्र है, जैसे तरंग समुद्रका। एक अनंत शक्ति—प्रकृति, माया या शक्ति—विश्वको व्याप्त किये हुए है, प्रत्येक नाम और रूपमें स्वयंको ढाल रही है और मिट्टीका ढेला, पौधा, कीट, पशु, मनुष्य, सब अपनी बाह्य नाम-रूपात्मक सत्ता-में इसी शक्तिके कम या अधिक कार्यक्षम आधारमात्र हैं। हममेंसे प्रत्येक एक डाइनमो है जिसमें उस शक्तिकी तरंगें उत्पन्न और संचित की गयी हैं और जिसमें नित्य-निरंतर उनका संरक्षण, व्यय और परिपूर्ति होती रहती है। वही शक्ति जो नक्षत्र और ग्रहमें क्रिया-शील है, हममें भी क्रियाशील है, और हमारे समस्त विचार और कर्म उसकी लीलामात्र हैं तथा उसकी क्रियाओंके जटिल जालसे उत्पन्न होते हैं। ऐसी प्रक्रियाएं हैं जिनके द्वारा मनुष्य एक आधारके रूपमें अपनी क्षमताको बढ़ा सकता है। दूसरी प्रक्रियाएं भी हैं जिनके द्वारा वह अपने और विश्वात्मक शक्तिके बीच संपर्ककी धाराको अपराधोंसे मुक्त कर सकता है और उस शक्तिके बृहत्तर-से-बृहत्तर भंडारोंको नीचे खींचकर अपनी आत्मा, मस्तिष्क और शरीरमें उनको प्रवाहित

करा सकता है। आधारकी यह निरंतर उन्नति तथा अनुप्राणित करनेवाली शक्तिकी क्रियाकी मात्रा और सूक्ष्म जटिलतामें अधिकाधिक वृद्धि, यही क्रम-विकासका समूचा उद्देश्य है। जब वह शक्ति सर्वोच्च प्रकारकी और पूर्णतम मात्रामें होती है, जिसके लिये मानव आधार समर्थ होता है, और जब स्वयं आधार उस शक्तिके प्रबल अंतःप्रवाह और क्रीड़ाको पूर्णतः वहन करनेके लिये अभ्यस्त हो जाता है, तब मनुष्य सिद्ध हो जाता है, आप्तकाम या पूर्ण पुरुष बन जाता है, उसका क्रम-विकास पूरा हो जाता है और वह व्यष्टिरूपमें उस अधिकतम विकासको पूर्ण कर चुकता है जिसके लिये मानवजाति सामूहिक रूपमें युग-युगसे कठिन प्रयास कर रही है।

यदि यह सिद्धांत सत्य हो तो बुद्धिकी क्रियाके मूलमें स्थित शक्ति हमारे भीतर ही होनी चाहिये और उसमें विशालतर विस्तार एवं समृद्धतर उपयोगकी इतनी क्षमता होनी चाहिये जो प्रायः असीम हो। और यह भी एक सच्चा और ठोस सिद्धांत होना चाहिये कि हम उस शक्तिकी जितनी अधिक वृद्धि कर सकें और जितना उसे अधिक समृद्ध बना सकें, हमारे मनकी क्रियाओंके विस्तार, शक्ति और कार्यकी अंतर्निहित संभावना तथा उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होनेवाली हमारी बौद्धकताकी शक्ति और हमारी उपलब्धियोंकी विशालता उतनी ही अधिक महान् होगी। यह वह प्रथम सिद्धांत था जिसे प्राचीन आर्योंने अपनी शिक्षाका मूल आधार बनाया था और ऊर्जाके भंडारकी निरंतर वृद्धिकी प्राप्तिके लिये जिन मुख्य पद्धतियोंका उन्होंने उपयोग किया, उनमेंसे एक थी ब्रह्मचर्यका अभ्यास।

अध्याय ३

अंतःस्थित शक्तिको बढ़ानेकी और उसे ऐसे उपयोगोंमें लानेकी, जिनसे उसे धारण करनेवाले व्यक्तिको या मानवजातिको लाभ हो, पहली और सबसे आवश्यक शर्त है ब्रह्मचर्यका अभ्यास। मनुष्यकी

सारी शक्तिका एक भौतिक आधार होता है। यूरोपीय जड़वादके द्वारा की गयी भूल यह है कि वह भौतिक आधारको ही सब कुछ मान लेता है और उसे शक्तिका मूल-स्रोत समझनेकी गड़बड़ कर बैठता है। जीवन और प्राण-शक्तिका मूल-स्रोत भौतिक नहीं, अपितु आध्यात्मिक है, किंतु जिस आधारशिला, नींवपर जीवन और शक्ति प्रतिष्ठित एवं क्रियाशील हैं, वह भौतिक है। प्राचीन हिंदू कारण और प्रतिष्ठा—सत्ताके ऊपरी और निचले छोरों—के बीचके भेदको स्पष्ट रूपसे समझते थे। पृथ्वी या स्थूल भौतिक तत्त्व प्रतिष्ठा है और कारण है ब्रह्म या आत्मा। भौतिक तत्त्वका आध्यात्मिक सत्तामें उत्कर्षण ही ब्रह्मचर्य है, क्योंकि दोनोंके सम्मिलन-से वह शक्ति जो एक (ब्रह्म या आत्मा)से निसृत होकर दूसरे (भौतिक तत्त्व) को उत्पन्न करती है, वृद्धिको प्राप्त होती और स्वयं-को चरितार्थ करती है।

यह ब्रह्मचर्यका तात्त्विक सिद्धांत है। इसका क्रियात्मक उपयोग निर्भर होता है शक्तिके मानव आधारकी भौतिक और मनोवैज्ञानिक रचनाके ठीक-ठीक ज्ञानपर। मूलभूत भौतिक इकाई है रेतस्, जिसमें कि मनुष्यके अंतःस्थित तेजस्, अर्थात्, ऊष्मा और प्रकाश और विद्युत् शक्ति अंतर्निहित और छिपे पड़े हैं। सारी ऊर्जा रेतस्में निगूढ़ रूपसे विद्यमान है। यह शक्ति या तो स्थूल भौतिक रूपमें व्यय की जा सकती है या सुरक्षित रखी जा सकती है। समस्त मनोविकार, भोगेच्छा, कामना, इस शक्तिको स्थूल रूपमें या एक उत्कृष्ट सूक्ष्मतर रूपमें शरीरसे बाहर फेंककर उसे नष्ट कर देती है। अनैतिक आचरण उसे स्थूल रूपमें बाहर फेंक देता है; अनैतिक विचार सूक्ष्म रूपमें। दोनोंमेंसे प्रत्येक दशामें शक्ति व्यर्थ नष्ट होती है, और अब्रह्मचर्य जैसे शारीरिक होता है वैसे ही मानसिक और वाचिक भी। इसके विपरीत समस्त आत्म-संयम रेतस्में निहित ऊर्जाकी रक्षा करता है और रक्षाके साथ सदा वृद्धि होती है। किंतु भौतिक शरीरकी आवश्यकताएं सीमित हैं और अतिरिक्त

शक्तिसे अवश्य ही उसके एक संचित भंडारका निर्माण होगा जो भौतिकके अतिरिक्त अन्य किसी उपयोगमें प्रयुक्त होना चाहिये। प्राचीन सिद्धांतके अनुसार रेतस् जल है जो प्रकाश और ऊष्मा और विद्युत्से, एक शब्दमें, तेजस्से परिपूर्ण है। रेतस्का विशेष संचय सर्वप्रथम ऊष्मा या तपस्में परिवर्तित होता है, जो सारे शरीरको प्रदीप्त करता है, और इसी कारण आत्म-संयम और तपस्याके सभी रूप तपस् या तपस्या कहलाते हैं क्योंकि वे ऊष्मा या उस प्रेरक शक्तिको उत्पन्न करते हैं जो शक्तिशाली कर्म और सिद्धिका मूल-स्रोत है; द्वितीयतः वह वास्तविक तेजस्, अर्थात्, प्रकाशमें परिवर्तित होता है जो समस्त ज्ञानका मूल उद्गम रूप-शक्ति है; तृतीयतः वह विद्युत्में रूपांतरित होता है जो सारे शक्तिशाली कर्मका आधार है, चाहे वह कर्म बौद्धिक हो या शारीरिक। और फिर विद्युत्में निहित है ओजस् या प्राण-शक्ति जो आकाशसे उत्पन्न होनेवाली मूलभूत शक्ति है। रेतस् जलसे तपस्, तेजस्, और विद्युत्में तथा विद्युत्से ओजस्-में परिष्कृत होकर शरीरको शारीरिक बल, ऊर्जा और मस्तिष्कको शक्तिसे भर देता है और अपने अंतिम स्वरूप ओजस्के रूपमें ऊर्ध्व-गामी होकर मस्तिष्कमें पहुंचता है तथा उसे उस मूल ऊर्जासे अनु-प्राणित कर देता है जो जड़-तत्त्वका सबसे परिष्कृत रूप है तथा आत्माके सबसे अधिक निकट है। वह ओजस् ही है जो आध्यात्मिक शक्ति या वीर्यको उत्पन्न करता है जिसके द्वारा मनुष्य आध्यात्मिक ज्ञान, आध्यात्मिक प्रेम और श्रद्धा, आध्यात्मिक बलको प्राप्त करता है। इसका निष्कर्ष यह है कि हम ब्रह्मचर्यके द्वारा तपस्, तेजस्, विद्युत् और ओजस्के भंडारको जितना ही अधिक बढ़ा सकें, उतना ही अधिक हम स्वयंको शरीर, हृदय, मन और आत्माके कार्योंके लिये पूर्ण एवं विशुद्ध शक्तिसे भर देंगे।

मानव आत्मा-संबंधी यह दृष्टि ही वह समूचा ज्ञान नहीं था जिसपर प्राचीन हिंदुत्वने अपने शिक्षा-संबंधी अनुशासनको प्रतिष्ठित किया था। इसके अतिरिक्त उसका यह भी मत था कि समस्त ज्ञान भीतर है

और शिक्षाका कार्य उसे बाहरसे शनैः-शनैः मनके भीतर डालना नहीं, वरन् जाग्रत् कर भीतरसे बाहर प्रकट करना है। मानव प्रकृतिकी रचना प्रकृतिके तीन तत्त्वों—सत्त्व, रजस् और तमस्—से हुई है; ये विश्वात्मक कर्मके बोध, क्रियाशीलता और निष्क्रियतामूलक तत्त्व हैं, जो अपने असंख्य रूपोंमेंसे एकमें ज्ञान इच्छा और अज्ञानके रूपमें प्रकट होते हैं। तमस् शारीरिक और मानसिक प्रकृतिकी जड़ता या निष्क्रियता है जो अंतः-स्थित ज्ञानको धूमिल कर देती है तथा अज्ञान, मानसिक जड़ता, मांद्य, विस्मृति, अध्ययनके प्रति अरुचि, वस्तुओंको समझने और उनके भेदको पहचाननेकी असमर्थताको जन्म देती है। रजस् एक अनियंत्रित क्रिया है जो तीव्र कामना, आसक्ति, पूर्वधारणा, मानसिक पक्षपात तथा मिथ्या विचारोंके द्वारा, ज्ञानको आच्छादित कर देती है। सत्त्व एक प्रकाश है जो भीतर छिपे हुए ज्ञानको उद्-घाटित करता और उसे उपरिपृष्ठपर ले आता है, जहां निरीक्षण उसे ग्रहण कर सकता और स्मृति स्वयंमें अंकित कर सकती है। ज्ञानात्मक शक्तिकी रचना-संबंधी इस धारणाने—तमस्को हटाना, रजस्को संयमित करना और सत्यको जाग्रत् करना—इसे शिक्षककी मुख्य समस्या बना दिया। उसे विद्यार्थीको भीतरसे प्राप्त होनेवाले ज्ञानके प्रकाशके प्रति ग्रहणशील बननेके लिये प्रशिक्षित करना होता था। रजस्को संयत करनेका कार्य साधित किया जाता था एक कठोर, नैतिक अनुशासनके द्वारा, जो बौद्धिक स्वेच्छाचारिता और अहंकार तथा तीव्र मनोवेगोंके आवरणसे मुक्त एक शांत, प्रसन्न, ग्रहणशील मानसिक स्थितिको उत्पन्न करता है,—यही था ब्रह्मचारीका वह प्रसिद्ध अनुशासन जो आर्य संस्कृति और आर्य नैतिकताका आधार था; और शिक्षाग्रहणकालमें जब कि शिष्यको मानवके द्वारा अबतक पहलेसे ही अधिकृत की जा चुकी सुनिश्चित ज्ञानकी राशि या यथार्थ विचार स्पष्ट किये और कंठस्थ कराए जाते थे, उस समय शिक्षकके प्रति कठोर, मानसिक वशवर्तिताके द्वारा मिथ्या विचारोंके हस्तक्षेपको दूर करनेका प्रयत्न किया जाता था। तमस्के बहिष्कारका कार्य साधित किया

जाता था नैतिक पवित्रताके अनुशासनके द्वारा जो शिष्यकी मन-प्राण शरीरात्मक प्रकृतिमें तेजस् और विद्युत्की शक्तिको जाग्रत करता था और तपस्याकी शक्तिके द्वारा उसे मानसिक शक्ति और स्पष्ट ज्ञान एवं विचारको धारण करनेका अभ्यस्त बनाता था। ज्ञानको जाग्रत करनेका कार्य पुनरावृत्ति, ध्यान और विचार-तर्ककी त्रिविध पद्धतिके द्वारा सक्रिय रूपसे साधित किया जाता था। आवृत्तिका प्रयोजन था मनके संस्कारग्राही भागको शब्द (अर्थात्, विचारोंको प्रकट करनेवाले शब्दों)से परिपूर्ण कर देना, ताकि अर्थका स्वतः एवं भीतरसे उदय हो: कहनेकी आवश्यकता नहीं कि एक यंत्रवत् पुनरावृत्ति संभवतः वह परिणाम उत्पन्न नहीं कर सकती थी। होनी चाहिये वह प्रसन्न, अविचल ग्रहणशीलता और शब्द या वस्तुपर मनके चिंतनशील भागकी वह तल्लीनता जो प्राचीन भारतीयोंके अनुसार ध्यानका अर्थ था। किसी भाषाका अध्ययन करते हुए हम सबने यह अनुभव किया है कि एक ग्रंथको समझनेका कठोर प्रयत्न करते समय जो कठिनाइयां असमाधेय प्रतीत होती थीं वे पुस्तकको थोड़ी देरके लिये अपने मनसे दूर कर देनेपर बिना पुस्तक या अध्यापककी सहायताके ही अचानक विलीन हो जाती हैं और स्पष्ट बोधका उदय होता है। हममेंसे कइयोंने कुछ समयके विरामके पश्चात् किसी भाषा या विषयके अध्ययनको पुनः आरंभ करनेमें भी यह देखकर विचित्रताका अनुभव किया है कि हमने जब उसे आरंभ किया था तबकी अपेक्षा अब हम उसे कहीं अधिक अच्छी तरह समझ लेते हैं, ऐसे शब्दोंका अर्थ जान लेते हैं जिनसे पहले कभी हमारा परिचय नहीं था और हम उन वाक्योंको भी समझा सकते हैं जो अध्ययन स्थगित करनेसे पूर्व हमारी बुद्धिको चकरा देते। इसका कारण यह है कि हमारे अंतःस्थित ज्ञाताका ध्यान उस विषयमें एकाग्र हो जाता है और वह विराम कालमें उस विषयके संबंधमें ज्ञानके अंतःस्थित स्रोतसे ज्ञान प्राप्त करनेके प्रयत्नमें व्यस्त रहता है। यह अनुभव केवल उन्हीं लोगोंके लिये संभव होता है जिनकी प्रकृतिका सात्विक या प्रकाशात्मक

तत्त्व बौद्धिक स्पष्टता और गंभीर अध्ययनके अभ्यासके द्वारा प्रबल रूपमें जाग्रत् हो चुका है अथवा सचेतन प्रयत्नपूर्वक या अनजाने ही समुचित रूपमें कार्य करनेके लिये प्रशिक्षित हो चुका है। सात्विक विकासकी सर्वोच्च पराकाष्ठा तब होती है जब हम प्रायः या सदा ही बाह्य साधनों —अध्यापक या पुस्तक, व्याकरण और शब्दकोष—के बिना काम चला सकते और किसी विषयको अधिकांशमें या पूर्णतः अपने भीतरसे ही सीख सकते हैं। किंतु यह योगाभ्यासके सफल अनुसरणके द्वारा केवल योगीके लिये ही संभव है।

अध्याय ४

स्पष्टताको न खोते हुए जितने संक्षिप्त रूपमें कहा जा सकता है, हम उन प्रमुख मनोवैज्ञानिक तत्त्वोंका निरूपण कर चुके हैं जिनके आधारपर प्राचीन भारतीयोंने अपनी शिक्षा-पद्धतिको प्रतिष्ठित किया था। ब्रह्मचर्यके अनुशासनके द्वारा उन्होंने उस सारी शक्तिको जिसे धारण और प्रयुक्त करनेकी क्षमता शरीर रखता है और जो शरीरकी भौतिक क्रियाओंके बाद बचायी जा सकती है, मस्तिष्ककी सेवाहेतु प्रस्तुत कर दिया था। इस प्रकार वे न केवल मेधा या ग्रहणशक्तिको, धी या विचारात्मक धारणा, स्मृति और सृजनात्मक बौद्धिक शक्तिकी, जिनसे मिलकर स्मृति, आविष्कार तथा सर्वांगीण और विश्लेषणात्मक निर्णयकी त्रिविध शक्ति बनती है, सूक्ष्मता और क्षिप्रताको पुष्ट करते हैं, अपितु आत्मसात्, संचय और नवसृजनकी मानसिक क्रियाओंकी तीव्रतामें, वैसे ही विस्तारमें भी अत्यधिक वृद्धि करते थे। यही कारण है स्मरण-शक्तिका, कई विभिन्न विषयोंको समझनेकी शक्तिके और सृजनात्मक कर्मकी बहुमुखीनताके उन आश्चर्यजनक भीमकार्योंका जिन्हें करनेमें पाश्चात्य इतिहासमें केवल कुछ ही असाधारण मेधावी पुरुष समर्थ हुए हैं, किंतु जो प्राचीन भारतमें एक सामान्य और साधारण बात थी। श्री ग्लैडस्टन आश्चर्यजनक

स्मरणशक्तिवाले व्यक्ति समझे जाते थे क्योंकि वे बतलाए गये किसी भी स्थलसे आरंभ कर जहांतक आवश्यकता होती धाराप्रवाह, होमरके पूरे महाकाव्य 'इलियड'को कंठस्थ सुना सकते थे; किंतु प्राचीनकालके किसी ब्राह्मणके लिये यह न तो किसी असाधारण और न आश्चर्यजनक, वरंच एक तुच्छ और सीमित क्षमताका ही प्रमाण होता। एक एरिस्टोफेनीसकी बहुमुखी प्रतिभाकी या एक हर्वर्ट-स्पेंसरके बौद्धिक कार्योंकि विशाल क्षेत्रकी यूरोपमें खूब ही प्रशंसापूर्ण या आश्चर्यजनक, शब्दोंमें चर्चा हुई है; किंतु प्राचीन भारतमें प्रचलित सामान्य पाठचक्रमकी व्यापक विशालता प्रत्येक विद्यार्थीके लिये थी, न कि गिने-चुने असाधारण विद्यार्थियोंके लिये, और इस पाठचक्रमका अर्थ आधुनिक शिक्षा-योजनाकी भांति अनेक विषयोंका थोड़ा-थोड़ा आस्वादनमात्र ही नहीं, अपितु सब विषयोंपर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना था। काव्य-सृजनकी प्रत्येक दिशामें सर्वोच्च संसिद्धिके साधक एक कालिदासकी कृतियोंकी मौलिकता यूरोपीय बुद्धिको यहांतक संदेहजनक प्रतीत हुई कि छंदमाधुरीके उस शक्तिशाली अधीश्वरको खंड-खंड करके कालिदासत्रयके रूपमें सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है। फिर भी बत्तीस वर्षके छोटे-से जीवनमें शंकरके द्वारा दर्शनशास्त्रमें प्राप्त की गयी उपलब्धि उसके समकक्ष है और हमारे अपने ही समयमें समस्त संभव आध्यात्मिक ज्ञान और अनुभवपर श्रीरामकृष्णद्वारा प्राप्त किये गये सार्वभौम प्रभुत्वकी तुलनामें वह अत्यंत तुच्छ है। इस प्रकारके उदाहरण उतने सामान्य रूपमें नहीं पाये जाते जितने कि दूसरे प्रकारके, क्योंकि विशुद्ध सृजनात्मक प्रतिभा सर्वसामान्य वस्तु नहीं है; किंतु यूरोपमें अकेले एक आधुनिक उदाहरणको छोड़कर उनका सर्वथा अभाव है। यूरोपके सर्वोच्च सृजनात्मक प्रतिभासंपन्न पुरुष स्वयंको सीमित करते हुए एक ही बौद्धिक क्षेत्रके अकेले या अधिक-से-अधिक दो भागोंमें विशिष्टता प्राप्त करनेका प्रयत्न कर महत्ताके शिखरपर पहुंचे हैं; जब कभी बहुमुखी प्रयास किया है तो वह विशालताके आगे उच्चताका बलिदान करके ही किया गया है। किंतु

भारतमें सर्वोच्च प्रतिभासंपन्न पुरुष ही सबसे अधिक बहुमुखी संसिद्धि-वाले व्यक्ति हुए हैं और उन्होंने अपनी उच्चताको एक इंच भी खोये या अपनी सृजनात्मक शक्तिकी तीव्रताका कण-भर भी त्याग किये विना, सरलतापूर्वक, सुस्थिर चरणोंसे, सुनिश्चित अधिकारपूर्वक संसिद्धिके एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें पदार्पण किया है। इस सहज और अत्यर्थ ज्ञानोद्भासनका, जो ब्रह्मचर्यके द्वारा उत्पन्न अमोघ शक्तिकी चरम परिणति है, कारण वह आत्म-साधना थी, जो 'सत्य' या आंतरिक प्रकाशका विकास करती थी। यह आंतरिक प्रकाश ज्ञानप्राप्तिको तथा अन्य समस्त बौद्धिक क्रियाओंको सरल, सहज-स्वाभाविक, क्षिप्र, सुनिश्चित, तथा शरीर या मस्तिष्कके लिये अपेक्षाकृत कम थकानेवाला बना देता है। इन्हीं दो वस्तुओंमें कार्योंकी बौद्धिक उपलब्धिका रहस्य निहित है, ब्रह्मचर्य और सात्त्विक विकासने भारतके मस्तिष्क-का निर्माण किया था: योगके द्वारा उसे पूर्ण बनाया गया था।

यह एक आम शिकायत है कि हमारे विद्यार्थी अनेक पुस्तकोंके अध्ययनके साथ अनेक विषयोंके बोझसे अत्यधिक दबे हुए हैं। यह शिकायत बिल्कुल सच है तथापि यह भी उतना ही सत्य है कि अध्ययनके क्षेत्रकी संकीर्णता दयनीय और पढ़ी जानेवाली पुस्तकोंकी अल्प संख्या खेदका विषय है। इस विरोधाभासका क्या कारण है, इन दोनों प्रत्यक्षतः विरोधी प्रतीत होनेवाले सत्योंका औचित्य किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है? कारण यह है कि हम आधारकी तो उपेक्षा करते हैं और एकदम भवन खड़ा करनेमें लग जाते हैं जो आकारमें छोटा और उस आकारकी तुलनामें विषम अनुपातमें भारी होता है तथा ऐसी कमजोर नींवपर बना हुआ होता है जो अध्यापकों और पुस्तकोंद्वारा दिये गये हमारे ज्ञानके जरा-से और कमजोर मकान-के बोझको भी नहीं सह सकती। अपनी शक्तियों और शक्यताओंमें भारतीय मस्तिष्क अब भी वही है जो वह पहले था; किंतु वह क्षत-विक्षत हो रहा है, उसका विकास अवरुद्ध हो रहा है, वह विकृत होता जा रहा है। उसकी अंतर्जात मौलिक संभावनाओंकी गुरुता

उसके वाह्य रूपकी घोर विकृतिसे ढक गई है। पुरानी ब्रिटिशकालीन शिक्षा-पद्धतिने उसे एक ऐसी विदेशी भाषामें अध्ययनके द्वारा कुंठित कर दिया था जो उस समयतक अधूरे ढंगसे भी नहीं सीखी जाती थी जब कि उस असंभव माध्यमके द्वारा छात्रसे अनेक भिन्न-भिन्न अज्ञात और अपरिचित विषयोंको सीखनेकी मांग की जाती थी। इस कृत्रिम प्रक्रियामें तार्किक निर्णय-शक्ति, निरीक्षण, ग्रहण-शक्ति और सृजनात्मक शक्तिका उपयोग न होनेसे तथा भारतकी प्राचीन स्मरण-शक्तिके क्षीण और विकृत होते हुए बचे-खुचे अंशपर एकांत निर्भरताके कारण वह पंगु बन गया। अंतमें, समृद्ध भंडारसे युक्त और शक्तिसंपन्न बनाये जानेके बदले उसे विभिन्न विषयोंके थोड़े-थोड़े असंबद्ध ज्ञान तथा जानकारीके अधूरे पुलिंदोंको बटोरनेका प्रयत्न करना पड़ा जिससे वह दरिद्रता और अधोगतिको प्राप्त हुआ।

नवीन राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धतिने मातृभाषाका उपयोग करने, बेकार पड़ी हुई बौद्धिक शक्तियोंके प्रयोगको पुनः प्रतिष्ठित करने तथा सामान्य ज्ञानकी, तत्त्वभूत ज्ञानकी और नव सृजनोपयोगी सामग्रियोंकी एक समृद्धतर और यथार्थतर साधन-सज्जाको प्रस्तुत करनेके द्वारा उस दोषको मिटानेका प्रयत्न किया। यदि उसे विजयोल्लासपूर्ण सफलता प्राप्त न हो सकी तो अंशतः इस कारण कि उसका ऐसी मनोवृत्ति-के लोगोंसे पाला पड़ा जो पुरानी पद्धतिसे पहले ही दूषित हो चुके थे—और उनमेंसे प्रायः ऐसे लोगोंसे जो सर्वोच्च कोटिके भी नहीं थे—, और इसलिये कि स्वयं उसके शिक्षक भी नवीन शिक्षा-पद्धतिकी आवश्यकताओंको मुश्किलसे ही पूरे तौरपर समझ पाये थे और इस कारण भी कि उसके संचालक और निर्देशक पुरानी विचारधाराके लोग थे जो सर्वपरिचित रूढ़िग्रस्त विचारों और विनाशकारी भ्रांतियों-से चिपके रहे। किंतु स्वयं उस पद्धतिमें ही एक त्रुटि थी जिसका यद्यपि दूसरे युगों या देशोंमें कोई अधिक महत्त्व न होता, तथापि जिसका संक्रमणके ऐसे युगोंमें प्राथमिक महत्त्व होता है जब कि सूखी घासमेंसे ईंटें तैयार करनी पड़ती हैं और अभी किया गया कार्य

हमारे राष्ट्रकी भावी उपलब्धियोंको निर्धारित करेगा। स्वयंको राष्ट्रीय कहते हुए भी इस शिक्षा-पद्धतिने हमारे पूर्वजोंकी महान् उपलब्धिके मूल आधारकी ही और विशेष रूपसे ज्ञान-प्राप्तिके उपकरणको पूर्ण बनानेकी उपेक्षा की।

हमारा यह मंतव्य नहीं है कि ठीक वही प्राचीन शिक्षण-पद्धति अपने वाह्य आकार-प्रकारमें पुनःप्रतिष्ठित की जानी चाहिये,—यह एक ऐसी मांग है जो पुरातनके प्रगाढ़ प्रेमियोंद्वारा प्रायः की जाती है। वाह्य आकार-प्रकारकी कई वातें आधुनिक युगकी आवश्यकताओंसे मेल नहीं खातीं। किंतु उस शिक्षा-पद्धतिके मूलभूत सिद्धांत सभी कालके लिये सत्य हैं और उसके अंगभूत अनुशासनका स्थान केवल किसी और भी अधिक प्रभावशाली अनुशासनकी खोजके द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है, और यूरोपीय शिक्षाके पास हमें देनेके लिये वैसा कोई भी अनुशासन नहीं है। प्राचीन शिक्षा-पद्धतिके स्वरूप और मनोवैज्ञानिक विचारोंको प्रकट करना तथा हमारे पूर्वजोंकी गौरवपूर्ण उपलब्धिके साथ उस पद्धतिके अनिवार्य कारण-कार्य संबंधकी ओर संकेत करना ही इन निबंधोंका उद्देश्य रहा है। उस पद्धतिके सिद्धांत किस प्रकार पुनः व्यवहारमें लाये जा सकते या अधिक पूर्ण बनाये जा सकते हैं और किस प्रकार किसी हदतक उनका स्थान एक गंभीरतर मनोविज्ञान तथा एक और भी अधिक प्रभावशाली अनुशासनके द्वारा ग्रहण किया जा सकता है, यह एक पृथक् विवेचनाके योग्य विषय है।

(सेंटनेरी वाल्यूम ३)

शिक्षाके बारेमें

विद्यार्थियोंसे

राष्ट्रके इतिहासमें ऐसे समय आते हैं जब भगवान् उसके सामने एक ऐसा कर्तव्य, एक ऐसा लक्ष्य रख देते हैं जिसके लिये शेष सभी

चीजोंको न्यौच्छावर कर देना पड़ता है, चाहे वे अपने-आपमें कितनी ही महान् और उत्कृष्ट क्यों न हों। हमारी मातृभूमिके लिये ऐसा समय आ गया है जब उसकी सेवाके सिवाय कोई और चीज प्यारी नहीं है, जब सब कुछको उसी उद्देश्यकी ओर मोड़ना है। अगर तुम अध्ययन करो तो उसके लिये अध्ययन करो: उसकी सेवाके लिये अपने तन, मन और आत्माको प्रशिक्षित करो। तुम अपनी रोजी कमाओ ताकि उसकी सेवाके लिये तुम जी सको। तुम विदेश जाओ तो इसलिये कि वह ज्ञान ला सको जिसके द्वारा तुम उसकी सेवा कर सको। काम करो, ताकि वह समृद्ध बने। कष्ट सहो, ताकि वह सुख पाये। सब कुछ इस सलाहमें आ जाता है।

('वन्दे-मातरम्')

*

हमारा लक्ष्य है मानवकी दिव्य पूर्णता। इसलिये हमें पहले यह जानना चाहिये कि मनुष्यकी पूर्ण पूर्णता किन प्रधान तत्त्वोंसे बनी है। दूसरी बात, हमें यह जानना चाहिये कि हमारी सत्ताकी मानवीय पूर्णतासे भिन्न दिव्य पूर्णतासे हमारा क्या मतलब है। सारी चिंतनशील मानवजाति यह मानती है कि सत्ताके रूपमें मनुष्य आत्म-विकास और पूर्णताके एक ऐसे आदर्श स्तरकी ओर जानेमें समर्थ है जिसकी कल्पना करके, उसका मन उसके सामने रख सकता है और उसका अनुसरण कर सकता है, भले ही गिने-चुने लोग इस संभावनाको जीवनका सबसे महत्त्वपूर्ण लक्ष्य समझते हों।

('योग-समन्वय')

*

...मनको कोई ऐसी चीज नहीं सिखायी जा सकती जो सत्ताकी विकसनशील आत्मामें पहले ही संभाव्य ज्ञानके रूपमें छिपी हुई न हो। इसी तरह वह पूर्णता जिसे प्राप्त करनेमें बाहरी मनुष्य समर्थ

है, केवल उस आत्माकी शाश्वत पूर्णताकी उपलब्धि ही है जो उसके भीतर विद्यमान है। हम भगवान्‌को जानते हैं और भगवान् बन जाते हैं क्योंकि अपने गुप्त स्वभावमें हम पहलेसे वही हैं। हर प्रकारकी शिक्षा एक प्रकटन है। सभी संभूतितक उन्मीलन है। आत्म-प्राप्ति उसका रहस्य है। आत्म-ज्ञान और बढ़ती हुई चेतना साधन और प्रक्रिया है।

('योग-समन्वय')

*

अभीतक यह अनुभव नहीं किया गया है कि यह आत्मा क्या है, कि शिशु हो या मनुष्य, उसे अपनी गहनतर आत्माको, अपने अंदर स्थित सच्चे चैत्य पुरुषको खोजनेमें मदद करना ही सच्चा रहस्य है। अगर हम उसे सामने आनेका मौका दें, बल्कि उसे अपने 'अभियानके नायक' के रूपमें सामने बुलायें, तो वह खुद हमारे हाथोंसे शिक्षाका अधिकतर काम ले लेगा। वह मनोवैज्ञानिक सत्ताकी क्षमताको उसकी संभावनाओंकी सिद्धिकी ओर विकसित करेगा। जीवनका हमारा वर्तमान यंत्रवत् दृष्टिकोण, मनुष्य और उनके साथ वर्ताव करनेके तरीके हमें उनके साथ अनुभव प्राप्त करनेसे और उनके बारेमें धारणा बनानेसे रोकते हैं। ये नयी शिक्षा-पद्धतियां हमें सीधी इस सत्यपर व्यवहारकी ओर ले जाती हैं। प्राणिक और भौतिक बुद्धिके पीछे स्थित चैत्य पुरुषके साथ घनिष्ठ संपर्कका प्रयास, और उसकी संभावनाओंपर अधिकाधिक निर्भरताको हमें इस आविष्कारकी ओर ले जाना चाहिये कि आंतरिक दृष्टिसे मनुष्य आत्मा है, भगवान्‌की सचेतन शक्ति है। अगर मनुष्य अपनी सत्ताके इस गहनतम विधान और गुप्त सत्यको प्राप्त करना और उसके अनुसार जीना चाहे तो इस अंतःस्थित असली मनुष्यका आविर्भाव ही शिक्षाका और संपूर्ण मानव जीवनका लक्ष्य है।

('मानव-चक्र')

ACC NO 99684
DATE....4-12-2000
HIMI

हमारे प्रकाशन

१.	बच्चोंके श्रीअरविंद	...	रु. १.००
२.	हमारी मां	...	रु. २.००
३.	राजकुमार—एक प्रतीकात्मक नाटक	...	रु. २.००
४.	माताजी–एक झलक	...	रु. १०.००
५.	मंत्र वचन	...	रु. २.००
६.	नर-नारी	...	रु. ५.००
७.	भारत मांकी मांग	...	रु. ५.००
८.	योगके तत्त्व	...	रु. ५.००
९.	श्रीअरविंद और उनका आश्रम	...	रु. ५.००
१०.	श्रीअरविंद : जीवन और दर्शन		रु. ६.००
११.	श्वेत कमल अजिल्द	...	रु. २०.००
१२.	लाल कमल (श्रीअरविंदका परिचय) सजिल्द		रु. ३५.००
	अजिल्द		रु. ३०.००
१३.	माताजी और श्रीअरविंद		रु. २५.००
१४.	जगन्माता		रु. ४.००
१५.	माताजी और भारत		रु. २.००
१६.	माताजीकी चित्रावली		रु. ४.००
१७.	ध्यान		रु. ३.००
१८.	प्रार्थना और मंत्र		रु. ३.००
१९.	भारत		रु. २.००
२०.	धन		रु. २.००
२१.	माताजी और श्रीअरविंद अपने बारेमें		रु. ३.००
२२.	गीताकी भूमिका (श्रीअरविंद)		रु. ४.००
२३.	प्रकृतिकी कानाफूसी		रु. ३.००
२४.	मानवसे अतिमानवकी ओर		रु. १७.७५